शब्दाकर्षण शैली

(समीक्षा-जगत में अभिनव स्थापना)

Style of the dictional charm
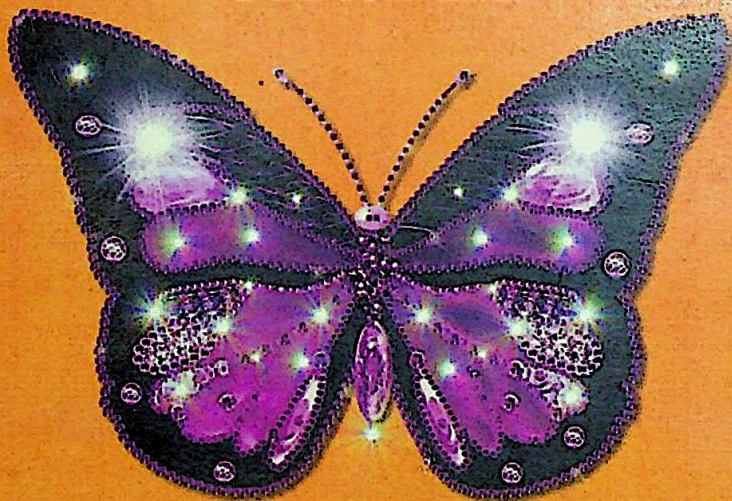
डॉ. रामशिरोमणि 'होरिल'

आधुनिक समीक्षा अपने विविध रूपों में हिन्दी-जगत में समादृत हो चुकी है। समीक्षा की इन विविध कोटियों का विस्तार से विवेचना किया जा सकता है, किन्तु यहाँ इसकी कोई आवश्यकता नहीं है। चाहे हम समीक्षा के परम्परागत दृष्टिकोण को लें और चाहे आधुनिकता के नाम पर नई समीक्षा को लें, विवाद का स्वर कहीं दबता नहीं है। रसवादी, मनोवैज्ञानिक, यथार्थवादी, मार्क्सवादी, प्रगतिशील, अस्तित्ववादी, शैली वैज्ञानिक, संचेतनावादी, संरचनावादी और नई समीक्षा से जुड़े लेखकों का दलीय विभाजन स्पष्ट है। आलोचना के इन विविध रूपों का स्वागत है

शब्दाकर्षण शैली

(STYLE OF THE DICTIONAL CHARM)

(समीक्षा–जगत में अभिनव स्थापना)

समीक्षार्थ

सम्माननीय
विद्वान
डॉ. सूर्य प्रसाद मिश्र
'उपेन्द्र'
जी को सादर
भेंट
18/01/2015

डॉ0 रामशिरोमणि 'होरिल'

(पूर्व प्राचार्य–काशीनरेश राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय ज्ञानपुर–भदोही)

शब्दाकर्षण शैली
(STYLE OF THE DICTIONAL CHARM)

प्रकाशक : भाषादूत (हिन्दी साप्ताहिक)
इंगलिशिया लाइन, वाराणसी

अक्षर संयोजन : अनिल कुमार मौर्य

आवरण व मुद्रक : नवरंग प्रिंटिंग प्रेस
कैण्ट, वाराणसी
मो0 9838419150

द्वितीय संस्करण - 2014

सहयोग राशि : रु0 165/- मात्र

पता - हरियाँव भदोही-221401
वर्तमान पता- समालकोट
परसीपुर, स.र.न., भदोही-221402
सचल भाष- 09936225392

SABDAKARSHAN SHAILI
BY : Dr. RAMSHIROMANI 'HORIL'

अनुक्रम

तृतीय अध्याय

चतुर्थ अध्याय

पंचम अध्याय

आभार

शब्दाकर्षण शैली ***(STYLE OF THE DICTIONAL CHARM)*** के द्वितीय संस्करण के प्रकाशन के अवसर पर अपने उद्गार व्यक्त करने में मुझे हर्ष की अनुभूति हो रही है। प्रोफेसर अशोक कुमार मिश्र, डॉ. विद्याशंकर त्रिपाठी, श्री पारसनाथ मिश्र, श्री राजनाथ मिश्र 'मराल', डॉ. सूर्य प्रसाद मिश्र, डॉ. राजकुमार पाठक, कैलाश चन्द्र चतुर्वेदी (घायल) डॉ. शंभुनाथ, श्री ओम धीरज आदि मुख्य हैं जिन्होंने इस ग्रन्थ के द्वितीय संस्करण के प्रकाशन के लिए मुझे प्रेरित किया। श्री निशांत विद्यापति कोकिल, श्री किसलय, हरेन्द्र उपाध्याय, नरेन्द्र कुमार उपाध्याय, प्रेम जौनपुरी, श्री आलोक श्रीवास्तव, एकल बनारसी, प्रमोद पथिक, प्रमोद कुमार सरोज, कैलाश चन्द्र गुप्त आदि ने अपनी सद्भावना से मुझे सदैव प्रेरित किया है। मैं सबका आभारी हूँ।

साहित्यिक जगत के प्रेरणास्रोत श्री रवि पटौदिया (भदोही), श्री महादेव सिंह बालाजी, आलोक द्विवेदी आदि के सद्भाव के प्रति आभार प्रकट करना किसी भी अर्थ में सामान्य नहीं है। मेरे साहित्यिक मित्र एवं प्रेरणास्रोत महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ हिन्दी के पूर्व प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष डा. श्रद्धानन्द जी का मैं विशेष आभारी हूँ। श्री रत्नविजयम रत्नचूड़ (कार्यकारी सम्पादक–हिन्दी साप्ताहिक 'भाषादूत') सम्पादन एवं मुद्रण की बारीकियों के सुझाव देते हुए इस द्वितीय संस्करण के लिए उन्होंने मुझे बार–बार प्रेरित किया।

नवरंग प्रिन्टिंग प्रेस, कैण्ट–वाराणसी के स्वत्वाधिकारी श्री नन्दलाल वर्मा जी का सक्रिय सहयोग प्रेरणास्पद रहा है। अजित वर्मा (सम्पादक–हिन्दी साप्ताहिक 'भाषादूत'), अनिल कुमार मौर्य (उप–सम्पादक) तथा संदीप वर्मा ने प्रकाशन कार्य में अपनी जो रुचि प्रदर्शित की वह सराहनीय है। मैं सबके प्रति आभार प्रकट करता हूँ।

डॉ. रामशिरोमणि 'होरिल'
सचल भाष–09936225392
प्रधान सम्पादक
हिन्दी साप्ताहिक 'भाषादूत'
नवरंग प्रिन्टिंग प्रेस, कैण्ट, वाराणसी
221001

प्राक्कथन

आदिकाव्य की रचना के कुछ समय बाद से ही मनीषी चिन्तक काव्य की उन विशिष्टताओं की खोज में संलग्न रहे हैं जिनके कारण सहृदय का मन काव्य–रचना के प्रति आकृष्ट होकर उसमें रमता है। खोज की उक्त प्रक्रिया के फलस्वरूप पूर्व और पश्चिम में भरत (काणे के अनुसार ई0पू0 तीसरी शताब्दी) और अरस्तू (ई0पू0 384–332) से लेकर आज तक अनेक काव्य–सिद्धान्त प्रतिपादित किए गए, काव्यशास्त्र संबंधी अनंत ग्रंथों की रचना हुई। तीव्र मतभेदों के रहते हुए तथा खंडन–मंडन, आलोचना–प्रत्यालोचन की अटूट परंपरा के बीच भी विभिन्न सिद्धान्तों के पुरस्कर्त्ताओं का लक्ष्य केवल एक ही रहा है : उस रहस्य का उद्घाटन जिसके कारण कोई काव्य–कृति पाठक, श्रोता अथवा दर्शक के लिए आकर्षक और परिणामतः आस्वाद्य बनती है। यद्यपि शास्त्र की नीरस सरणियों में विचरण किए बिना भी कोटि–कोटि पाठक, श्रोता और दर्शक काव्य अथवा उसकी नाट्य–प्रस्तुति में रस लेते रहे हैं, तथापि इस सत्य को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि सुविचारित काव्य–सिद्धान्त और उन पर आश्रित व्यावहारिक एवं व्याख्यात्मक आलोचनाएँ सहृदय की रूचि में परिष्कार करके किसी भी काव्य–रचना की संप्रेषणशीलता में सहायक होकर उसकी आकर्षण–शक्ति एवं रसनीयता में वृद्धि कर देती हैं।

मेरे जिन सुधी शिष्यों ने काव्यशास्त्र जैसे गहन विषय पर मौलिक चिंतन किया है, उनमें डॉ0 तारिणीचरणदास 'चिदानन्द' (साहित्य तथा उसकी विविध विधाएँ), डॉ0 ऋषिकुमार चतुर्वेदी (रस–सिद्धान्त तथा छायावादोत्तर हिन्दी कविता) एवं डॉ0 कुमारी नीरजा टंडन (हिन्दी समीक्षा में रस सिद्धांत) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इसी परंपरा को आगे बढ़ाते हुए मेरे वरिष्ठ शिष्य तथा प्रस्तुत ग्रंथ के प्रणेता डॉ0 रामशिरोमणि 'होरिल' ने अपने आप में पूर्ण तथा सर्वथा नवीन काव्य–सिद्धांत की स्थापना की है। उन्होंने 'आकर्षण' को काव्य का नित्य धर्म तथा मर्म माना है। उनके मत से 'आकर्षण' 'सौन्दर्य' से कहीं अधिक व्यापक है, क्योंकि असुन्दर अथवा कुरूप के प्रति भावबोध भी

विस्मयजन्य आकर्षण ही है। शब्द–विधान, अनुभूति, कल्पना, बिंब, प्रतीक, भाव, विचार, शब्दलय, भावलय, तुक आदि काव्य के जितने भी अंग अथवा तत्त्व हैं, वे सब 'आकर्षण' के ही उपस्कारक हैं। 'शैली' 'शब्द' का ही बृहत्तम फलक है, और 'शब्दाकर्षण शैली' को स्वीकार कर लेने से संप्रेषण की समस्या भी स्वतः ही हल हो जाती है। लेखक ने अपने विचारों को एक ऐसी सहज प्रांजलता और तर्कसम्मत विधि से प्रस्तुत किया है कि उससे असहमत होना कठिन है। सच तो यह है कि उसने किसी प्रचलित और मान्य काव्य–सिद्धान्त का विरोध नहीं किया, अपितु स्व–निर्मित व्यापक सिद्धान्त में उन सभी सिद्धान्तों को अन्तर्लीन कर लिया है। काव्य वह विषय अथवा वस्तु (Object) है, जिसमें आकर्षण है, सहृदय को अपनी ओर खींचने की, और, उसके खिंच आने पर, उसके मन को अपने में रमाने की शक्ति है। प्रमाता अथवा सहृदय के अनुभव की दृष्टि से देखें तो काव्य–सामग्री के प्रति उसका आकर्षण और उस सामग्री में उसकी निमग्नता ही काव्य का आस्वादन है।

मेरा विश्वास है कि इस सुनियोजित, सुग्रथित एवं सांगोपांग 'शब्दाकर्षण शैली' नामक काव्य–सिद्धान्त पर हिन्दी के विद्वान् समीक्षक पूर्वग्रह–मुक्त होकर सार्थक विचार–विमर्श करते हुए इसका उचित मूल्यांकन करेगें।

गणतंत्र दिवस, 1987

राकेशगुप्त
398, सर्वोदय नगर, सासनीगेट
अलीगढ़ – 202001 (उ0प्र0)

प्रथम अध्याय
पूर्व पीठिका

प्रकरण–1 :

शब्दाकर्षण : आशय एवं व्याख्या

शब्द् धातु में घञ् प्रत्यय लगाकर 'शब्द' शब्द रूप में निष्पन्न होता है। शब्द का अर्थ कोशकारों ने सार्थक ध्वनि, लफ़्ज (word), ओऽम, निराकार के गुण–कथन से सम्बन्धित साधु–सन्तों के पद आदि के रूप में किया है। भाषा वैज्ञानिकों ने शब्द को वर्ण के बाद भाषा की लघुतम इकाई के रूप में स्वीकृति प्रदान की है। शब्द के विषय में भारतीय विचारकों ने गम्भीरता से मनन किया है। शब्द का आशय इतना संक्षिप्त नहीं है, जितना कि कोशकारों ने व्यक्त मान लिया है। हमारे यहाँ अक्षर को भी ब्रह्म कहा गया है और पाश्चात्य जगत ने अक्षर से ही साहित्य की संगति बिठा ली है। अर्थात् 'लेटर' (Letter) से लिटरेचर (Literature) को सम्बद्ध कर लिया है। भारतीय मनीषा ने शब्द को विस्तृत अर्थ में लेते हुए उसे 'वाक्य' के रूप में भी देखा है। इस विस्तृत धारणा के परिप्रेक्ष्य में शब्द का महत्त्व कई गुना बढ़ जाता है। इतना ही नहीं, भारतीय मनीषा और आगे बढ़ते हुए 'शब्दब्रह्म' की कल्पना में लीन हो जाती है।

शब्द का महत्त्व काव्य में भी इतना गौण नहीं है, जितना लोग समझते हैं। शब्दालंकार, शब्द–शक्ति, शब्द–विधान, शब्दानुशासन, शब्दार्थ आदि से सम्बन्धित विचार शब्द के महत्त्व को प्रतिपादित करते हैं। शब्द में भी आकर्षण है, और जीवन के क्रिया–व्यापार में भी। शैली में भी आकर्षण है– जिसके कारण अभिव्यक्ति सर्जनात्मक लक्ष्य को प्रतिपादित करती है। 'आकर्षण' का अपना महत्त्व तो है ही। आकर्षण शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है —आ + कृष् + ल्युट । 'कृष्' का अर्थ खींचना है। अतः आकर्षण का अर्थ हुआ — अपने गुण, बल, विशेषता आदि की सहायता से किसी को अपनी ओर खींचना । यहाँ आकर्षण को विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। काव्य भी अपने गुण, बल, विशेषता आदि की सहायता से किसी का मन अपनी ओर खींचता है। आकृष्ट करता है । मेरी धारणा से अंग्रेजी के 'अट्रैक्शन' (Attraction) और 'चार्म' (Charm) दोनों शब्द 'आकर्षण' के बराबर हैं।[1] शैली शब्द की व्युत्पत्ति

इस प्रकार की गई है — शील + ष्यञ्ङीप, यलोप {शीलमेव स्वार्थे ष्यञ् ङीपि यलोपः }। शैली का अर्थ इस प्रकार किया गया है.......अभिव्यक्ति या अर्थकरण का ढंग, वाक्य रचना का प्रकार, लिखने का ढंग, चाल, रीति, परिपाटी आदि।

आधुनिक विचारकों ने शब्द के महत्त्व को पुनः स्वीकार कर लिया है। आज उपयुक्त शब्द – प्रयोग के प्रति साहित्यकार अधिक सावधान हैं। पहले का रचनाकार शब्द को उतना महत्त्व नहीं देता था.......'ऐसा कहना उचित नहीं। भारतीय चिन्तकों ने तो यहाँ तक कहा था.......एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग भवति।' (पातंजल महाभाष्य) पाश्चात्य विचारकों में जिन्होंने शब्द को विशेष महत्त्व दिया, उनमें होरेस, लांगिनुस, वाल्टर पेटर आदि का नाम उल्लेखनीय है ।

शब्द विषयक अवधारणा (Conception) प्राचीन है। 'वाक्यपदीय' में भर्तृहरि ने विचार करते हुए कहा है कि शब्द ही वह शक्ति है, जो संसार को एक सूत्र में बाँधे हुए है । भारतीय साहित्य में उपलब्ध शंब्द विषयक अन्य मान्यताओं और अवधारणाओं को मैं यहीं छोड़ देना चाहता हूँ । भर्तृहरि की यह अवधारणा कि शब्द ही वह शक्ति है, जो संसार को एक सूत्र में बाँधे हुए है – – बहुत महत्त्वपूर्ण है। किसी वस्तु आदि के बाँधने में खिंचाव की क्रिया अनिवार्य होती है, और यही खिंचाव — आकर्षण — विश्व– सृष्टि में अपना नित्य प्रभाव बनाए हुए है। कुमारिल भट्ट ने 'शब्द' को भी नित्य माना है।

आज तक विश्व–साहित्य में काव्य के विषय में व्यापक मनन– चिन्तन हुआ है। भारतीय काव्य–शास्त्रियों के विचार–प्रवाह में जो गतिशील समीक्षात्मक अन्तर्दृष्टि है, हमने उसका अनादर किया, इसी का प्रतिफलन है– पश्चिमोन्मुखी दृष्टि की सहर्ष आत्म–स्वीकृति। जिस शैली–विज्ञान की आज धूम है, वह हमारा अपना नहीं है। भारतीय साहित्य शास्त्र में ऐसे निगूढ़ तत्त्वों का अनुसंधान किया जा सकता है।

शास्त्रगत अपार ज्ञानराशि के अध्ययंन–मनन से जो विशिष्ट ज्ञान अध्येता उपार्जित कर लेता था, वही उसका विज्ञान था। हमारे ऋषियों– महर्षियों का विज्ञान जन–कल्याणोन्मुखी था—व्यावहारिक था। मात्र शास्त्रों तक सीमित नहीं था। शास्त्र में निहित नियमों–उपनियमों का व्यावहारिक पक्ष विज्ञान के रूप में भी समादृत है। इसी अर्थ में शैलीविज्ञान एकोन्मुखी है— भाषा की

संरचनात्मक पीठिका पर आधारित। भाषा का अस्थिपंजर–तोड़ व्यावहारिक अध्ययन इसी विज्ञान की करामात है। यदि हम पाश्चात्य जगत की नकल न करते तो शैलीविज्ञान की धुन्ध में अन्धाधुन्ध चक्कर न काटते।

शैली का आशय सामान्यतः अभिव्यक्ति से है। 'शील' के धरातल पर वह व्यक्तित्व से अनुस्यूत है। भावना का फलक व्यापक है। सृष्टि के विस्तार के साथ–साथ आदि मानव के मन में सोच का एक बिम्ब उठा होगा। यही सोच उसकी कल्पनाओं के जाल से संश्लिष्ट होकर शनैः–शनैः भाव में परिणत हुआ होगा। जीवन के विविध पक्षों से प्राप्त भाव–राशि की ज्ञान–चेतना शनैः शनैः उसकी 'शैली' बनी होगी। विकास की स्थिति में मानव आज जहाँ पहुँच चुका है– वह उसकी जीवन–पद्धति की विराट शैली का महाकाश है।

विश्व का अणु–परमाणु किसी न किसी आकर्षण में परिबद्ध है। सारा मानव–इतिहास नारी–पुरुष के परस्पर आकर्षण का मूल केन्द्र है। ग्रह–नक्षत्रों का अपना–अपना आकर्षण है। जीवन–जगत का सारा लेखा– जोखा मानव के व्यक्तित्व एवं उसकी मानसिकता के आकर्षण में बँधा हुआ है। हिम शैल–शिखरों से लिपटे हुए हैं तो लताएँ वृक्षों से। जनक–जननी का आकर्षण शिशु के प्रति अकाट्य है। लाखों–करोड़ों प्रकाश–वर्षों की यात्रा करने के पश्चात् धरा के वक्षस्थल से लिपट जानेवाली आकाशीय किरणों का इतिहास निराला है। आकर्षण का यह महामेला विश्व में क्षण–प्रतिक्षण घटित हो रहा है। शब्दाकर्षण शैली में 'आकर्षण' शब्द काव्यात्मक दृष्टि से क्या महत्त्व प्रतिपादित करता है ? अब यह प्रश्न पाठक के मन में उठ चुका होगा। इसका समाधान आगे किया जाएगा।

शैली के सन्दर्भ में और 'शील' के सम्बन्ध में अभी थोड़ा विचार अपेक्षित है। शील व्यक्तिगत और समष्टिगत प्रभावों से निर्मित होता है। मात्र अपनी ही भावनाभूमि से किसी के व्यक्तित्व का निर्माण नहीं होता है। अनुभव का संसार हमारे व्यक्तित्व के निर्माण में अपनी सामूहिक चेतना को फैलाए रहता है। अतः शैली हमारे अनुभव के केन्द्र में आई विशिष्ट भावना के साथ–साथ समष्टिगत चेतना के प्रभाव को भी समेटे रहती है। ऐसी स्थिति में रचनाकार का मनोजगत काव्य–निर्माण में व्यक्तिगत चेतना का प्रतिफलन मात्र नहीं माना जा सकता है। रचनाकार की व्यक्तिगत चेतना का तिरोभाव भी नहीं होता है, और वह अनुभूत सामूहिक चेतना तथा व्यक्तिगत चेतना के संश्लिष्ट भावलोक को एक साथ ही

प्रस्फुटित करने का प्रयास भी करता है। यह प्रयास नितान्त बौद्धिक, वैयक्तिक और क्लिष्ट कल्पनायुक्त होने पर विखर जाता है। पुनः रचनाकार की सहज चेतना के प्रभाव–बिम्ब को धूमिल कर देता है। विचारात्मक रचनाओं का समालोक व्यष्टि और समष्टि की संश्लिष्ट चेतना को अधिक तीव्रता से अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति में ला सकता है। इसके विपरीत कल्पनाप्रिय रचनाओं में व्यष्टिगत चेतना अत्यधिक हावी हो जाती है। यहाँ रचनाकार कभी– कभी अपने ही कल्पनालोक में विचरण करने लगता है। 'आँसू' और 'कनुप्रिया' में कल्पना–प्रियता सहजोद्‌गार को विशद करने में सहायक है। अतः कवित्व का प्रभाव धूमिल होने से बच गया है ।

परिवेश की सामूहिक चेतना रचनाकार के व्यक्तित्व को दंशन और प्रशंसन दोनों से अभिभूत किए रहती है। परिणामतः उसका शील व्यष्टि–समष्टि की चेतना के अनुभव–बिम्बों का समाहार हुआ करता है। परिवेश की घुलनशीलता रचनाकार के व्यक्तित्व का निर्माण करती है। लोकानुभूति की ओर रचनाकार स्वतः आकृष्ट हो जाता है। एक परिवेश से दूसरे परिवेश में जाकर वह बदल भी सकता है। परिवेश उसके मनोजगत को प्रभावित करता है, यह सर्वथा सत्य है। वाल्मीकि का परिवेश तुलसी से भिन्न था। तुलसी का घन आनन्द से। कालिदास की शकुन्तला में प्रकृति की स्वच्छन्दता, सरलता, नम्रता, कोमलता, सुन्दरता सब कुछ समाहित है। कवि के शील ने निश्चय ही परिवेश के इस प्रभाव को जीवन में झेला होगा।

शब्दाकर्षण को काव्यार्थ–चेतना से युक्त करने के लिए कवि को उसे अपने शील से समन्वित करना पड़ता है। शील और शब्दार्थ–चेतना का समन्वय काव्य को अनुभूति का विषय बनाता है। प्राकृतिक तथा सामाजिक संस्कारों, गतिविधियों एव घटनाओं के पूर्ण वेग को कवि यदि जीवन्त बनाना चाहता है, तो उसे अपने शील को काव्यार्थ–चेतना के साथ समंजित करना होगा। काव्य रचनाकार के व्यक्तित्व का तर्क नहीं, वरन् तत्प्रेरित भावनाओं का उदि्गरण है। काव्य में व्यक्तित्व का तिरोधान नहीं वरन् समाधान होता है। भावना में कल्पना का ओज ही नहीं, भाव और विचार की अनुगूँज भी हुआ करती है। इसलिए कहा जाता है कि काव्य का जन्म भावना की कोख से होता है। परिवेश का दंश रचनाकार के व्यक्तित्व को बहुमुखी बनाता है, गति प्रदान करता है। प्रशंसा रचनाकार के व्यक्तित्व को विचार से पृथक् कर समुदायगत चेतना विशेष में उसे सीमित भी कर सकती है और विशद भी। सामन्ती व्यवस्था से प्रशंसित

रचनाकार समुदाय विशेष तक सीमित होने के कारण सर्वहारा वर्ग का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता है, और सर्वहारा वर्ग की चेतना का गायक सामन्ती व्यवस्था का। किन्तु मानवतावादी दृष्टि रचनाकार को समष्टिगत चेतना में बाँधकर पूरे परिवेश को अंकित करने के लिए बाध्य कर देगी। सत्य और न्याय मानवीय–भाव के आलोक को विस्तार प्रदान करते हैं। उसे गौरवान्वित करते हैं।

जैसा कि ऊपर व्यक्त किया जा चुका है—शैली में 'शील' तत्त्व समाहित है। शील व्यष्टि और समष्टिगत चेतना से अनुप्राणित मानसिकता का केन्द्र है। विचार और कल्पना के सम्पूर्ण तन्तु भाषा के तन्तुओं से जुड़े होते हैं। विचार और कल्पना के तरल तन्तुओं से मानवीय सम्बन्धों की अभिव्यक्ति की डोर बँधी रहती है। क्षण–प्रतिक्षण भावनाओं की उठती हुई ज्वारित अभिव्यक्ति की धारदार पकड़ भाषायी होती है, और भावना का सम्प्रेषण शैली द्वारा ही सम्भव है। अतः शैली का अर्थ हुआ– रचनाकार के सम्पूर्ण व्यक्तित्व (आचार–विचार, गति, लय, चेतना, मानसिकता, आनुभूतिक स्वस्थता) और प्राणवन्त भाषा के तेवर से प्रस्फुटित अभिव्यक्ति। भाषा भी रचनाकार के शील का एक अंग हुआ करती है अतः यह कहना भी संगत है कि शील की प्राणवन्त अभिव्यंजना ही शैली है। ऐसा क्यों ? क्योंकि शील परिवेश के विभिन्न आयामों के गतिशील प्रभावों का परिणाम है, और इन प्रभावों के कारण मानवीय संवेदनाओं को छूने की सर्वाधिक शक्ति भाषा में है। अतः यह कहा जा सकता है कि शैली और सम्प्रेषणीयता परस्पर अन्तर्ग्रथित हैं। शैली होने के कारण वह भाव–जगत से भी पृथक् नहीं है। भाषा से सम्बद्ध होने के कारण शैली का स्वरूप संरचनात्मक हो जाता है, और भावना से सम्बद्ध होने के कारण वह कल्पना और अनुभूति को भी अपने में समाविष्ट कर लेती हैं। अतः हम इस प्रकार भी कह सकते हैं— प्राणवन्त भावानुभूति की संरचनात्मक एवं संवेदनात्मक अभिव्यक्ति शैली है।

शब्द का आकर्षण शैली का आकर्षण है। आकर्षण (Charm) मानव–मनोनुभूति का सर्वाधिक प्रभावशाली तत्त्व है। समीक्षा–जगत में रस विषयक अवधारणा का आतंक इतना अधिक रहा कि समीक्षकों ने काव्य के संरचनात्मक स्वरूप के आधार पर, आकर्षण के आलोक में उसके मर्म को आँकने का प्रयास नहीं किया। हाँ, चलते हाथ जहाँ उन्होंने काव्य के संरचनात्मक स्वरूप पर भी दृष्टि डाली, वहाँ अवश्य ही कुछ अधिक अभिव्यक्त करने में उन्हें सफ़लता मिली। 'उपमा

कालिदासस्य......... आदि पंक्तियाँ इसका परिणाम हैं।' इस सफलता का कारण था–भाव और भाषा दोनों के आधार पर काव्यानुभूति की अभिव्यक्ति। शैली–शिल्प की चर्चा भारतीय काव्य–शास्त्रियों ने जमकर की है। वामन ने 'रीति' सिद्धान्त का विवेचन किया है। कतिपय आलोचकों ने 'रीति' को शैली के तुल्य माना है, किन्तु 'रीति' में शैली को समाविष्ट नहीं किया जा सकता है। जिस प्रकार शैली के लिए यह कहा जा सकता है कि उसके अनेक रूप हैं। उसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि 'वक्रोक्ति' सिद्धान्त के प्रवर्तक कुन्तक ने शिल्प के प्रति आकर्षण व्यंजित किया है.....'वक्र कवि व्यापार शालिनि'......'बन्धेव्यवस्थितौ' आदि। 'औचित्य' सिद्धान्त में विचार और मानसिकता तथा प्रसंगोचित मौलिकता की–सी सूक्ष्म अव्याहत धारा वर्तमान है। 'औचित्य' का पक्ष व्यावहारिक है। व्यावहारिकता संगति को ध्वनित करती है। संगति कलानुभूति से युक्त होने के कारण आकर्षण मूलक भी है।

जिस शैलीविज्ञान (Stylistics) के सहारे पाश्चात्य जगत आज काव्य को समझने का दावा कर रहा है, उनका बीज भारतीय काव्यशास्त्र में सन्निहित है। भारतीय समीक्षकों ने आलोचना की परम्परागत प्रणाली को तोड़ने का दावा किया है, परन्तु भाव और विचार के व्यापक फलक पर 'शब्दाकर्षण' के परिप्रेक्ष्य में भाषा के संरचनात्मक स्वरूप की विशद, व्यापक एवं भव्य परख नहीं की है, और न ही अनुभूति और कल्पना को नए सन्दर्भ में विवेचित किया है। पुनः काव्य के समीक्षार्थ शब्द, आकर्षण और शैली की संगति नहीं बिठाई है।

प्रकरण 2 :

आकर्षण और विकर्षण

विकर्षण की अपेक्षा आकर्षण अधिक स्थायी, जीवन्त एवं प्रवाहपूर्ण होता है। यह काव्य का नित्य धर्म है। आकर्षण का प्रभाव मानव की जीवन–पद्धति के अधिक निकट है। मानव तथा मानवेतर जगत में आकर्षण का चिरन्तन प्रभाव बना हुआ है। अनन्त से टूटा हुआ एक नक्षत्र दूसरे नक्षत्र के परिवेश में समाविष्ट हो जाता है। धन–कुटुम्ब–कलत्र के मोह को त्याग देने वाला व्यक्ति वैराग्य के आकर्षण में बँध जाता है। वृक्ष की टहनियो में संलग्न पत्ते उनसे पृथक् होते ही धरती के आकर्षण में

सिमट आते हैं। स्पष्ट है कि विकर्षण की तुलना में आकर्षण का रूप अधिक प्रखर और सहज है ।

काव्य का नित्य धर्म होने के कारण आकर्षण उसका मर्म भी हैं। काव्यानुभूति काव्य–सम्प्रदायग्रस्त नियमों एवं बन्धनों के अधीन न होकर मूलतः आकर्षण के अनुरूप हुआ करती है। अनुभूतियाँ शैली के आकर्षण में बँधी रहती हैं और शैली मूलतः शब्दाकर्षण में; पुनः स्वयं शब्द शैली के आकर्षण में। शैली शब्द का ही वृहत्तम फलक है। शब्द–बिम्ब का प्रसार व्यापक तथा सीमातीत होता है। शब्द और शैली के बीच भी आकर्षण व्याप्त रहता है। काव्यानुभूति के क्षेत्र में यही आकर्षण काव्य का मर्म बन जाता है।

आकर्षण तो विभिन्न भौतिक पदार्थों, क्रियाओं एवं प्राणियों में भी पाया जाता है। लोहे को चुम्बक भी अपने आकर्षण से खींचता है। कुछ क्रियाएँ कुछ क्रियाओं के लिए आकर्षण का विषय बन जाती हैं। विभिन्न प्राणी विभिन्न वस्तुओं की ओर आकृष्ट होते हैं। प्रकृति और मानव के बीच भी आकर्षण पाया जाता है– खिंचाव (Attraction) की ये भौतिक क्रियाएँ काव्यगत आकर्षण के अनुकूल नहीं होती हैं, क्योंकि काव्य में कलात्मक अनुभूति, भावनात्मक आनन्द एवं विचारात्मक उन्मेष का पुट होता है, तथापि भौतिक आकर्षण की अवहेलना सम्भव नहीं है क्योंकि भौतिक आकर्षण ही अनुभूति का विषय बनकर काव्यानुभूति में परिवर्तित हो जाता है। यह आलम्बनधर्मी तत्त्व है। भौतिक आकर्षण से भिन्न विचारात्मक अथवा भावनात्मक आकर्षण सूक्ष्म होता है। काव्य में जहाँ अश्लील वर्णन हो, कुंठा का चित्रण हो, वहाँ सौन्दर्यानुभूति न होकर आकर्षण–जन्य काव्यानुभूति, आकर्षण के कारण होगी अवश्य, चाहे जिस रूप में हो, पर इसे सौन्दर्यानुभूति कहना उचित नहीं।

प्रकरण 3 :

शब्दाकर्षण शैली : एक परिदृश्य

युग–परिवर्तन तथा सभ्यता के विकास के साथ मानव के विचारों में भी परिवर्तन हुआ करता है। सम्प्रति पौरस्त्य और पाश्चात्य धारणाएँ एक दूसरे से गहन रूप में प्रभावित हो रही हैं। भारतीय समीक्षा–जगत में लक्षित समन्वयवादी दृष्टि

इसी का परिणाम है। प्रारम्भ में भारतीय आलोचना–पद्धति पूर्णतया रसोन्मुखी रही है, और पाश्चात्य आलोचना– पद्धति भावोन्मुखी। भारतीय आलोचना का पूर्व युग रसांतक की परिधि से पृथक् न हो पाया, जबकि उसके पास एक श्रेष्ठ धरोहर अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति और औचित्य के रूप में उपलब्ध थी, और वेद–पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्म–संस्कृति तथा इतिहास के रूप में लोकचिन्तन की प्रवहमान परम्परा का अजस्र स्रोत उसकी जीवन–पद्धति से अभिन्न सम्बन्ध बनाए हुए था।

भारतीय आलोचना–जगत में नवीनता का सूत्रपात भारतेन्दु युग के लेखकों से प्रारम्भ होता है। कई दृष्टियों से इस युग का महत्त्व समझा जा सकता है। हिन्दीतर भाषाओं में भी समीक्षा का सूत्रपात इसी युग में लक्षित हुआ। आधुनिक आलोचना काव्यशास्त्रीय मूल्यों के साथ–साथ काव्येतर अनुशासनों–विज्ञान, मनोविज्ञान, मानवशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र, इतिहास, कला, सभ्यता एवं संस्कृति से भी जुड़ गई है। उसका पाट विस्तृत हो गया है। विज्ञान और समाज विज्ञान की विविध मान्यताओं; विचार–धाराओं एवं धारणाओं का अनुशीलन काव्य जगत की चिन्तन–धारा में समाविष्ट आकर्षण– चेतना के आधार पर प्रस्तुत किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में 'शब्दाकर्षण शैली' का प्रवर्तन आधुनिक सन्दर्भ में वांच्छनीय एवं अनिवार्य है।

शब्दाकर्षण शैली में निहित आकर्षण का तत्त्व; विज्ञान, कामशास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र को अपने क्रोड में समेट लेता है। शब्द तत्त्व, अलंकार, रीति–ध्वनि, वक्रोक्ति–औचित्य आदि के साथ–साथ शैलीविज्ञान और भाषा– विज्ञान के उपबन्धों से टकराता है। आकर्षण तत्त्व 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' तथा 'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' के प्रवाह में रस–सिद्धान्त से भी जुड़ जाता है। काव्येतर अनुशासनों (विज्ञान और मानविकी) के प्रति भी पाठक का आकर्षण लक्षित होता है, किन्तु यह आकर्षण काव्य के 'आकर्षण' के समानान्तर नहीं चलता है। काव्य में निहित आकर्षण चिन्तन के विविध आयामों से जुड़ जाता है, जबकि काव्येतर अनुशासन ज्ञानवर्धन के एकान्तिक स्रोत होने के कारण एकार्थक होते हैं तथा भाषायी संचेतना का वह प्रवाह उनमें लक्षित नहीं होता है, जो काव्य–भाषा में पाया जाता है।

शब्दाकर्षण शैली को स्वीकार कर लेने के पश्चात् काव्य–सम्प्रेषण की

समस्या स्वयं हल हो जाती है। शब्द में आकर्षण होता हैं और शब्द का आकर्षण, शैली के प्रति भी होता है। शैली व्यक्तित्व के पृथक् नहीं होती है। व्यक्तित्व लोक–सापेक्ष होता है–– परिवेश एवं मानसिक वृत्तियों से निर्मित, जन–जन की आकांक्षाओं एवं संवेदनाओं से आन्दोलित।

'शब्दाकर्षण शैली' में रूप (Form) और कथ्य को पृथक्–पृथक् रूप में देखने की चेष्टा नहीं है। यहाँ शब्द और कथ्य के साथ आकर्षण का शब्द तत्त्व समाहित है। जिस प्रकार शब्द रूप के समीप है, उसी प्रकार कथ्य भी। पुनः रूप और कथ्य दोनों आकर्षण से भिन्न नहीं हैं, पौरस्त्य जगत् की रसानुभूति और पाश्चात्य जगत् की कलानुभूति में भी आकर्षण का यही तत्त्व समाहित है। शैली कथ्य के सम्पूर्ण स्वरूप की अन्तर्ध्वनि है। काव्य अथवा काव्य–शास्त्र की सीमा में पड़कर 'आकर्षण' एक व्यापक अर्थग्रहण कर लेता है। शब्द–विधान कल्पना और अनुभूति, भाव एवं विचारों का आवेग, अर्थानुदेश की व्यापकता, उसकी लयात्मकता, भाषायी संचेतना आदि सभी तत्त्व काव्यानुभूति के क्षेत्र में आकर्षण के उपस्कारक तत्त्व बन जाते हैं।

आकर्षण का फलक सौन्दर्य से भी अधिक व्यापक है। सौन्दर्य के क्षेत्र में सुरूप के प्रति रागात्मकता पाई जाती है और कुरूप के प्रति वितृष्णा। 'आकर्षण' में तो कुरूप और भीषण के प्रति भी विस्मय–जन्य भाव–बोध बना रहता है। सौन्दर्य की व्यापकता दिखाने के लिए कुछ अप्रासंगिक बातें भी की गई हैं। इसकी सीमा में तनाव, व्यथा, क्लेश आदि जैसे भावों को भी घसीटने का प्रयत्न किया गया है। यह घसीटपन किसी भी रूप में सुन्दर नहीं कहा जा सकता है। हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ इन तथ्यों की ओर किसी सौन्दर्य के प्रभाव से नहीं जाती हैं। वस्तुतः तनाव, व्यथा अथवा क्लेश की अनुभूति ही हमारे मन में आकर्षण उत्पन्न कर देती हैं; फलतः हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ इनकी ओर प्रवृत्त हो जाती हैं। हमारी मानसिकता में एक ऐसा आनुभूतिक आकर्षण भर देती हैं कि हम उस ओर अपने आप सिमट जाते हैं। उदरशूल से छटपटाते व्यक्ति को हम किसी सौन्दर्यानुभूति के प्रभाव से नहीं देखते हैं। ऐसे व्यक्ति की असहनीय पीड़ा हमारे मन में संवेदना जगाती है, हमें विस्मय से अभिभूत कर देती है, और हम उस व्यक्ति को देखने के लिए बाध्य हो जाते हैं– एक विचित्र आकर्षण हमें उस व्यक्ति की ओर खींच ले जाता है। जो वस्तु–जगत् में है वही भाव–जगत् में आलम्बन का विषय बनता है। बाह्य जगत् की यही

क्रिया–प्रतिक्रियाएँ काव्य के लिए आकर्षण का विषय बनती हैं। भरतमुनि का नाट्य–दर्शन इसी आकर्षण की पीठिका पर खड़ा है। त्रासदीकार अरस्तू का नाट्य– दर्शन इसी आकर्षण की शैली का दासानुदास है। अनुभूति और संवेदना की सम्पूर्ण अवधारणाएँ इसी आकर्षण के कारण आलोचना–जगत् में प्रतिष्ठित हो सकी हैं ।

भारतीय काव्यशास्त्र के क्रोड में समाहित नायक–नायिका–भेद का सम्पूर्ण उच्छ्वास कामशास्त्रीय है। आवश्यकतानुसार आकर्षण की परख करते हुए इसका उपयोग किया जा सकता है। रूप–वर्णन और प्रेम–वर्णन के प्रसंग भारतीय चिन्तन–धारा के अनुसार कामशास्त्रीय ही है। इसे पाश्चात्य चिन्तन–धारा के मूल्यों से भी तुलित किया जा सकता है। नायक–नायिका–भेद, रूप–वर्णन तथा प्रेमवर्णन की अवधारणाएँ युगानुरूप समाज–विज्ञान के मूल्यों को अपने अनुकूल फिट किया करती हैं। काम–शास्त्र भी समाज–विज्ञान का एक अंग है। अर्थाकर्षण और रूपाकर्षण की मान्यताएँ प्राचीन हैं। कदाचित् इसीलिए तुलसीदास ने लिखा था –

कामिहि नारि पियारि जिमि,
लोभिहिं प्रिय जिमि दाम।

शैली तत्त्व सम्पूर्ण संरचना का मूल स्वरूप है। वामन का रीति– सिद्धान्त कुन्तक का वक्रोक्ति–सिद्धान्त और क्षेमेन्द्र का औचित्य–सिद्धान्त शैली–परक हैं। इस प्रकार उक्त सिद्धान्तों का पर्यवसान शैली में ही हो जाता है और परंपरागत चिन्तन की अवधारणाओं का सन्दर्भ आधुनिक अर्थ में भी गृहीत हो जाता हैं। शब्दाकर्षण शैली के विभिन्न प्रतिमान विभिन्न शास्त्र–सिद्धान्तों से सामंजस्य बिठाते हुए काव्यशास्त्रीय चिन्तन से जुड़ जाते हैं। रसध्वनि की अवधारणा भावावेग मूलक है, अतः आकर्षण से भी पृथक् नहीं है। अलंकार, रीति और वक्रोक्ति के सिद्धान्तों में शब्दाकर्षण का प्रवाह है। औचित्य–सिद्धान्त में शब्द–शैली के बीच निहित आकर्षण की अनुशासनात्मक संगति विद्यमान है। मानसिकता तथा उसके विविध आयाम (काव्यगत मनोवैज्ञानिकता से सम्बन्धित होने के कारण मनोविज्ञान से सामंजस्य स्थापित कर लेते हैं। परिवेशगत प्रासंगिकता का प्रकरण प्रकृति–विज्ञान तथा समाज–विज्ञान के अनुरूप है। सन्दर्भ और परम्पराएँ इतिहास, सभ्यता और संस्कृति तथा मानव–विज्ञान से जुड़ी हुई हैं। 'प्रसंगोचित मौलिकता' का काव्य

तथा काव्य–शास्त्र के साथ एकोन्मुख अभिन्नता है। आकर्षण और अनुभूति की सह–धर्मिता का प्रकरण सौन्दर्यशास्त्र, विज्ञान, मनोविज्ञान, समाज– विज्ञान, अर्थ–शास्त्र, मानव–विज्ञान आदि से सम्बन्ध स्थापित किए हुए है। बिम्बात्मक सम्प्रेषणीयता का सम्बन्ध चित्रकला, ध्वनि–विज्ञान तथा रस–सिद्धान्त के साधारणीकरण के अनुकूल है। प्रतीक–उन्मेष तथा प्रतीकित उपमान का प्रसंग अलंकार एवं रीतिशास्त्र से अनुमोदित है। इसी प्रकार शृंखलाघात तथा उपान्तिक बन्धता ध्वनि–सिद्धान्त से तथा भाषायी संचेतना भाषा–विज्ञान, व्याकरण एवं शैली विज्ञान से जुड़ जाती है। इस प्रकार ज्ञान की विविध शाखाएँ शब्दाकर्षण शैली के लिए उपस्कारक तत्त्व हैं।

कवि और लेखक की भावनात्मक पृष्ठभूमि इष्टार्थ–संयोजन के लिए ही प्रयुक्त होती हैं। इष्टार्थ–संयोजन कवि या लेखक की वाणी की स्वयंसिद्धि है। अभिप्रेत अर्थ तक लेखक या कवि पहुँचना चाहता है। वह इस दिशा में बढ़ने का पूर्ण प्रयास करता है। विशृंखलित काव्यार्थ–चेतना संगत अभिव्यक्ति में पूर्णतः सफल नहीं हो सकती। काव्यार्थ चेतना से आशय है काव्य की वह भाव–ध्वनि जो काव्यगत मनोविज्ञान को जीवंत बनाए रखती है। अर्थ का आकर्षण पाठक अथवा समीक्षक को अपनी ओर खींचता है।

प्रकरण 4 :

युगीन परिवेश में आकर्षण का महत्त्व और औचित्य

किसी नये सिद्धान्त की स्थापना युगीन परिवेश के प्रभाव से मुक्त नहीं होती है। आज का युग आकर्षण का युग है। विभिन्न सभ्यताएँ एवं संस्कृतियाँ एक–दूसरे के आकर्षण में सिमट रही हैं। अन्तरराष्ट्रीय मूल्यों एवं सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक गतिविधियों के प्रति आज का मानव अधिक आकृष्ट होता जा रहा है। आकर्षण उसे जकड़ रहा है।

साहित्य के क्षेत्र में आकर्षण का विशिष्ट महत्त्व है। सौन्दर्य की स्थापना करनेवाले समीक्षक आकर्षण की तुलना में सौन्दर्य को अधिक महत्त्व दिया करते हैं; किन्तु आकर्षण जितना व्यापक है, सौन्दर्य उतना नहीं। पिछले प्रकरण में इसकी कुछ चर्चा की गई है। यहाँ पुनः कुछ इस प्रसंग में लिखना असंगत न होगा।

आकर्षण तो ऐसी वस्तुओं एवं दृश्यों के प्रति भी हुआ करता है, जिनके प्रति हमारी ऐन्द्रिय चेतना क्षणिक आवेग से झुकती है और पुनः हट जाती है। कुछ क्रियाएँ एवं घटनाएँ ऐसी भी होती हैं, जिनकी ओर हमारा मन औत्सुक्य और विस्मय के कारण ही आकृष्ट हो जाता है। रेलगाड़ी के चक्कों के नीचे दम तोड़ते व्यक्ति विशेष की हड्डियों, मांस, मज्जा, अँतड़ियों, क्षत–विक्षत अंगों एवं उसके नंग–धड़ंग रूप को देखकर हम किसी सौन्दर्यानुभूति के वशीभूत नहीं होते हैं; तथापि हमारे मन का आकर्षण क्षण भर के लिए हमें उस दृश्य की ओर खींच ले जाता है। यह खिंचाव—आकर्षण–सहज है, प्रकृत है। आकर्षण सुरूप और कुरूप दोनों के प्रति होता है। आकर्षण की चेतना सर्वांगीण होती है, जबकि सौन्दर्य–चेतना एकांगी।

कला और साहित्य का सृजन हमारी मानसिक चेतना को प्रसन्न तथा प्रभावित करने के लिए किया जाता है। आकर्षण हमारी मानसिक चेतना को प्रभावित भी करता है, प्रसन्न और विषण्ण भी। केवल प्रसन्न करना अथवा अभिभूत करना तो 'सौन्दर्य' का काम है, तथा प्रभावित करना और प्रसन्न करना 'आकर्षण' का। अनिवार्य नहीं कि प्रभावित करनेवाला प्रत्येक दृश्य अथवा वस्तु हमें प्रसन्न करे ही, आनन्दानुभूति में डुबोये ही। कभी–कभी आकर्षक दृश्य विषाद की गहरी वेदना से हमारा मन संतप्त कर देता है। यह वेदना आकर्षण–जन्य होती है, सौन्दर्य–जन्य नहीं। स्पष्ट है– सौन्दर्य अभिभूत करता है और आकर्षण प्रभावित। यहाँ इतना और स्पष्ट करना उत्तम होगा कि आकर्षण जहाँ सौन्दर्य की भूमिका भी अदा करेगा वहाँ वह प्रभावित भी करेगा और अभिभूत भी। यह स्पष्ट किया जा चुका है कि आकर्षण का फलक सौन्दर्य से अधिक व्यापक है।

रचनाकार का सम्पूर्ण आकर्षण 'इष्टार्थ–संयोजन' के प्रति होता है। इष्टार्थ–संयोजन का आधार है– शब्द। शब्द साहित्यकार की सम्पूर्ण चेतना का संरचनात्मक आधार है। शब्द के अभाव में साहित्य अपंग है। आकर्षण से रहित साहित्यकार शब्द के मर्म को नहीं पहचान सकता है, क्योंकि उसकी मानसिक चेतना का क्षितिज सहज एवं सजग नहीं होता है।

इष्टार्थ–संयोजन के दिशा–सन्धान की बेला में रचनाकार आकर्षण की सृष्टि करता है। प्रथमतः सौन्दर्यपरक लगने वाला दृश्य अन्ततः आकर्षण –मूलक हो जाता है। सौन्दर्य के इस खण्डित स्वरूप को उदाहरण द्वारा स्पष्ट करना श्रेयस्कर होगा। सौन्दर्य बाह्य और आन्तरिक दोनों प्रकार का होता है। अभिभूत

करने की दृष्टि से सौन्दर्य के प्रभाव की कोटियाँ हुआ करती हैं। व्यापकता की दृष्टि से सौन्दर्य मोहक और लोकव्यापी प्रभावों की कोटियों में और वासना की सघनता की दृष्टि से मादक तथा मारक प्रभावों में विभाजित हो जाता है। वही सौन्दर्य जो हमें प्रसन्न करता है, अभिभूत करता है, जब कभी त्रासक रूप ले लेता है तो उसका प्रभाव बदल जाता है। वह हमारे लिए त्रासद हो उठता है। मैथिलीशरण गुप्त के 'पंचवटी' में शूपर्णखा के इसी रूप का रेखांकन किया गया है। यदि इस प्रसंग को सौन्दर्य के प्रभाव के अनुकूल समझने का प्रयास किया जाए तो सिद्धान्ततः यह खंडित हो जाता है। लक्ष्मण द्वारा नाक–कान काटते ही शूपर्णखा का रूप भयंकर हो जाता है। ऐसे रूप को भी देखने की ललक मानव–मन में होती है, जो भयप्रद हो अथवा वीभत्स, पर उसमें रमण करने की आकांक्षा नहीं होती है। यहाँ शूपर्णखा के रूप को देखने की ललक आकर्षणमूलक है, न कि सौन्दर्यमूलक ।

आज का मानव अत्यन्त व्यस्त है। इन व्यस्तताओं के बीच वह अनेक आकर्षण में बँधा हुआ है। उसकी स्थिति किसी एक क्रिया विशेष में डूब जाने अथवा रमण करने की नहीं रह गई है। यदि कहीं वह डूबना चाहता भी है तो अन्य स्थितियाँ उसे उस परिवेश से खींचकर अन्य परिवेशों की ओर उन्मुख कर देती हैं। फलतः आकर्षण का स्वरूप बदल जाता है।

आशय यह कि मानव–मन का आकर्षण टूटता नहीं है। काव्य में यही आकर्षण अपनी गतिशीलता बनाए रखता है। रीतिकालीन काव्य में श्रृंगार मूलक रचनाओं में सौन्दर्य का चित्रण है, वहाँ रमणीय मनोभावनाओं का अंकन भी स्पष्ट है। अपनी इसी स्थिरता के कारण वह 'आकर्षण' की गतिशीलता जैसा प्रभावशाली रूप नहीं प्रस्तुत कर सका है।

रस एवं रमणीयता और सौन्दर्य के मानदंडों के आधार पर काव्यलोचन की पीठिका निर्मित होती है। युग के प्रभाव में सौन्दर्य के मानदण्ड प्रभावित हैं। आकर्षण का मानदण्ड किसी भी युग में अप्रभावित रहेगा। प्रेम, प्रकृति–व्यापार, देशाटन, कलह, कुसंगति, अनाचार, अन्य सामाजिक क्रिया–कलाप, नृत्य, कला, साहित्य सबके प्रति मानव–मन का आकर्षण बना रहेगा। मानव का अन्तःस्रोत सूखा नहीं है, भले ही अब वह इनका उपयोग स्थिर चित्त होकर युगों तक उसमें डूबकर न करे। यदि आज का मानव इनमें डूबता, मग्न होता, तो यह उसका सौन्दर्य का उपभोग होता, और यदि वह अपनी व्यस्तताओं के बीच इनमें निमग्न

नहीं हो पा रहा है तो यह उसका आकर्षण–मूलक उपभोग ही होगा। भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा आकर्षण–मूलक है। रस चक्र का स्वरूप सौन्दर्य के क्रोड में आविष्ट न होकर आकर्षण के क्रोड में समाविष्ट हो जाता है। आज की बाह्य क्रियाएँ मानव के अन्तर्मन को कुरेद रही हैं। काव्य में विनाशकारी तत्त्वों का भी वर्णन होता है। पूरे देश को विनाश की लौ में झुलस देनेवाले अणुबमों में कोई विरला ही सौन्दर्यानुभूति के दर्शन कर सकता है। ऐसे विनाशकारी अस्त्रों में सौन्दर्य का दर्शन करने वाला कोई सत्यमानव (ट्रू मैन) ही हो सकता है। पागलों की सौन्दर्यानुभूति को पागल ही समझ सकते हैं। इन विनाशकारी अस्त्रों के विस्मयपूर्ण आतंक को समझने का आकर्षण प्रत्येक मानव में पाया जाता है– यही आकर्षण काव्य का नित्य धर्म है। हमारी मानसिकता लोकजीवन की सभी क्रियाओं, भावनाओं एवं आकांक्षाओं से जुड़ी हुई है।

आज 'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' की बात करना तर्कसंगत है तथापि रमण चित्त–वृत्ति की एकान्तिक भावना है। रमण की स्थिति में अन्य प्रभाव शून्य हो जाते हैं और मानव एकोन्मुख हो जाता है। सौन्दर्य का प्रभाव उसे अपने में बाँध लेता है। अटूट सम्बन्धों की कड़ी प्रभावशाली हो जाती है। आज का मानव रमण में नहीं, द्वन्द्व में बँध गया है। यह द्वन्द्व भी आकर्षणमय है। इस तनावपूर्ण, द्वन्द्वमय आकर्षण में भी तीव्रता कम नहीं है। आकर्षण विशेष में बँधा मानव अन्य आकर्षण की ओर भी भाग रहा है; इसलिए वह स्थिर होकर एकान्तिक रमण का पक्षपाती नहीं रह गया है।

प्रकरण 5 :

आकर्षण का सिद्धान्त : विज्ञान और साहित्य

आकर्षण की मान्यता विज्ञान–जगत् में सर्वमान्य है; किन्तु विज्ञान की दृष्टि में 'आकर्षण शून्यता' की स्थिति का भी अस्तित्व है। विज्ञान– जगत् की यह मान्यता साहित्य जगत् में खंडित हो गई है। विज्ञानमूलक तथ्य के माध्यम से इसका स्पष्टीकरण करना अधिक सार्थक रहेगा। विज्ञान 'पलायन वेग' की चर्चा करता है। आशय यह की यदि कोई वस्तु धरती के गुरुत्वाकर्षण–शक्ति से बाहर पलायित कर दी जाए तो वह एक ऐसे परिवेश में पहुँच जाएगी जहाँ आकर्षण शून्य हो जाएगा।

साहित्यिक दृष्टि– बोध (Vision) इस वैज्ञानिक दृष्टि–बोध से भिन्न है।

विज्ञान ठोस प्रमाण के धरातल पर खड़ा होता है। इसमें नियम की जकड़ होती है और यहाँ दो–दो चार ही होता है। उसका सत्य कोरा सत्य है। साहित्य की सीमाएँ और विज्ञान की सीमाएँ एक सी नहीं हैं। साहित्य की सीमाएँ विज्ञान की सीमाओं का अतिक्रमण कर जाती हैं। उदहरण लें– 'कामायनी' के मनु और श्रद्धा प्रथम मिलन में ही एक दूसरे के आकर्षण में बँध जाते हैं। पुनः यही मनु श्रद्धा के आकर्षण से बाहर होने के लिए एकाएक पलायन कर जाते हैं। वे अपनी स्थिति पलायन वेग (Escape Velocity) की स्थिति एवं क्रिया से जोड़ लेना चाहते हैं और श्रद्धा के आकर्षण से पूर्णतया बाहर हो जाना चाहते हैं। श्रद्धा की पहुँच से बहुत दूर ....! मनु मानसिकता के यान पर आरूढ़ होकर श्रद्धा के आकर्षण से दूर पलायन वेग की प्रक्रिया से जिस वातावरण में पहुँचते हैं, विज्ञान की दृष्टि से वह आकर्षण–शून्य है। साहित्यकार आकर्षण–शून्यता को स्वीकार नहीं कर पाता है। वह उस परिवेश में भी आकर्षण उत्पन्न किया करता है जिसे विज्ञान 'आकर्षण–शून्यता' से जोड़ता है। 'कामायनी' का कवि इस नये वातावरण में भी मनु और इड़ा के परस्पर आकर्षण का नया संसार रच देता है। विज्ञान का मत है कि पलायन वेग के कारण आकर्षण शून्यता की स्थिति में वस्तु विशेष के आते ही उसका सम्पर्क अन्य तत्वों से छिन्न हो जाता है। धरती का आकर्षण शून्य हो जाता है। साहित्यिक दृष्टि इससे भिन्न होती है। सम्पर्क सूत्र से छिन्न–भिन्न हो जाने पर भी मानसिक व्यापार की प्रक्रिया गतिशील रहती है। मानसिक वेग की प्रक्रिया को प्रसिद्ध वैज्ञानिक सर ई0 सी0 जार्ज सुदर्शन भी स्वीकार करते हैं। 'कामायनी' का ही उदाहरण लें। श्रद्धा मनु से बहुत दूर हैं, किन्तु वह मनु के आकर्षण में अब भी बँधी हुई है। विज्ञान का मत है कि जहाँ आकर्षण शून्य हो गया, वहाँ आकर्षण का अस्तित्व ही कहाँ? किन्तु साहित्य का मत है कि परिवेश आकर्षण से जुड़ा है।

कुछ अन्य उदाहरण उपर्युक्त सन्दर्भ के विशदीकरण के लिए आवश्यक हैं। रावण सीता को राम से पृथक् कर उन्हें आकर्षण शून्यता की स्थिति में लाना चाहता है; किन्तु सीता का आकर्षण 'शून्यता' से उपजा हुआ वह आकर्षण है जो अब भी राम के प्रति बना हुआ है। स्पष्टतः यह विज्ञान के सिद्धान्त से भिन्न है। कैकेयी, राम–सीता और लक्ष्मण को मंथरा के मंत्रणा–यान पर आरूढ़ कर पलायन

वेग की प्रक्रिया से उन्हें वनवास देकर आकर्षण–शून्यता के जिस वातावरण में पहुँचा देती है, वह अयोध्या के वातावरण से सर्वथा भिन्न है; तथापि क्या वनवास के उस वातावरण में आकर्षण शून्यता का वैज्ञानिक सिद्धान्त लागू होता है? बिलकुल नहीं। कैकेयी ने राम को आकर्षण–शून्यता की स्थिति में फेंक दिया था– तो क्या वनवास की उस स्थिति में शून्यता से ही एक अन्य आकर्षण उत्पन्न नहीं हो गया? और क्या अयोध्यावासियों का आकर्षण राम के प्रति अथवा राम का अयोध्यावासियों के प्रति टूट गया? 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' के दुष्यन्त और शकुन्तला, 'पदमावत' के रत्नसेन और नागमती तथा 'सूरसागर' के राधा और कृष्ण इसी आकर्षण की भूमिका के पात्र हैं। इसमें संदेह नहीं कि भविष्य में आकर्षण के परिप्रेक्ष्य में 'शब्दाकर्षण शैली' के माध्यम से जब शोध की नई दिशाओं का सन्धान होगा तो बड़े ही निराले एवं रोचक तथ्य सामने आएँगे।

कुछ समीक्षक शोध की नवीन दिशाओं में झाँकने का नाम नहीं लेना चाहते हैं। ऐसा क्यों? इसे आप स्वतः समझ लें। मेरे कुछ लिखने पर कुछ लोग ऐसे उछलेंगे जैसे चिकोटी काट लेने पर बच्चे उछलते हैं। यदि आप को ऐसी प्रतीति हो रही हो कि यह तो मानसिक आकर्षण की बात है, तो यह स्पष्ट करना संगत होगा कि साहित्य का आकर्षण भी शब्दाकर्षण से बँधा हुआ है और रचनाकार की सम्पूर्ण मानसिकता इसकी परिधि से पृथक् नहीं हो सकती है।

साकेतकार ने लक्ष्मण को अयोध्या के परिवेश से बाहर लाकर एक ऐसी स्थिति में पहुँचा दिया है जहाँ वनवास की स्थिति में अयोध्या के आकर्षण के सम्पूर्ण प्रभाव लक्ष्मण पर नकारात्मक–से सिद्ध हो सकें, किन्तु उर्मिला जिस आकर्षण तन्तु से बँधी है– वह निराला है। लक्ष्मण भी राम– सीता के साथ रहकर आकर्षण–शून्यता की स्थिति में नहीं हैं। वहाँ भी आकर्षण का एक रूप स्वयं आलोकित है। वस्तुतः साहित्य में आकर्षण का सिद्धान्त शून्यता की स्थिति में आ ही नहीं सकता है। यदि ऐसा सम्भव हो जाए तो काव्य–आस्वादन सम्बन्धी सम्पूर्ण अवधारणाएँ खण्ड–खण्ड होकर बिखर जाएँगी।

साहित्य में आकर्षण की क्रिया बनी रहती है। आकर्षण की क्रिया विकर्षण की स्थिति में काल को अन्तराल शून्यता की स्थिति में ला देती है। एक उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट करना अच्छा होगा। जब किसी पत्थर के टुकड़े को कोई

व्यक्ति आकाश में पूरे वेग से फेंकता है तो वह धरती के आकर्षण से हटकर आकाशीय आकर्षण में आ जाता है, किन्तु जब वेग समाप्त होने लगता है तो वह पुनः धरती के आकर्षण में सिमटने लगता है, अर्थात् आकाशीय आकर्षण समाप्त होने लगता है और विकर्षण की क्रिया आरम्भ हो जाती है। यह विकर्षण की क्रिया कब आरम्भ हुई और कब धरती के आकर्षण की क्रिया गतिशील हुई– इन दोनों के बीच की कालावधि का अन्तर अत्यन्त सूक्ष्म है। अतएव यह कहना कि आकर्षण की क्रिया विकर्षण की कालावधि में अन्तराल शून्यता का बोध कराती है, साहित्यिक दृष्टि से संगत है। विकर्षण की क्रिया क्षणिक और आकर्षण की क्रिया शाश्वत है । एक व्यक्ति जब माया के बन्धन को तोड़कर समाज से निष्क्रमण कर जाता है तो वह अध्यात्म्य के आकर्षण में बँध जाता है। आकर्षण पहले माया के प्रति था और अब अध्यात्म्य–भावना के प्रति है। आत्म–हत्यारा आत्महत्या के पूर्व जिजीविषा के आकर्षण में था और ज्योंही उसका आकर्षण समाप्त हुआ वह मृत्यु के आकर्षण में बँध गया ।

आकर्षण प्रवृत्तिमूलक है। विकर्षण निवृत्ति मूलक। आकर्षण का विस्तार अपरिमित है। जीवन के विविध कामों का अन्त नहीं। इन्हीं कर्मों की अन्तः सलिला में आकर्षण की अनन्त लहरियाँ उठ रहीं हैं। विकर्षण इन्हीं लहरियों में बुलबुलों के समान हैं। जिनका अस्तित्व क्षणिक है।

प्रकरण 6 :

आधुनिक समीक्षा और शब्दाकर्षण शैली

आधुनिक समीक्षा अपने विविध रूपों में हिन्दी–जगत में समादृत हो चुकी है। समीक्षा की इन विविध कोटियों का विस्तार से विवेचना किया जा सकता है, किन्तु यहाँ इसकी कोई आवश्यकता नहीं है। चाहे हम समीक्षा के परम्परागत दृष्टिकोण को लें और चाहे आधुनिकता के नाम पर नई समीक्षा को लें, विवाद का स्वर कहीं दबता नहीं है। रसवादी, मनोवैज्ञानिक, यथार्थवादी, मार्क्सवादी, प्रगतिशील, अस्तित्ववादी, शैली वैज्ञानिक, संचेतनावादी, संरचनावादी और नई समीक्षा से जुड़े लेखकों का दलीय विभाजन स्पष्ट है। आलोचना के इन विविध रूपों का स्वागत है, क्योंकि मानवीय चिन्तन की दिशाएँ विविध हैं और जीवन के

जीने के ढर्रे भी।

अपने विचारों के प्रतिपादन में समीक्षकों ने नई दिशा, दृष्टि और बोध का सन्धान किया है, किन्तु समीक्षा के आधुनिक प्रतिमानों के आधार पर काव्य में निहित मूल्यों को आँकने का जो प्रयत्न किया गया है वह कहीं—कहीं पूर्वाग्रह से ग्रस्त होने के कारण एकांगी होकर रह गया है ।

हिन्दी समीक्षा की प्रवहमान धारा के मूर्धन्य आलोचकों ने विविध रूपों में अपने मतों को प्रतिपादित किया है। भारतीय काव्य के प्रकाश में आधुनिक दृष्टि—बोध अपनाकर रसवादी समीक्षा का मार्ग प्रशस्त किया गया है। ऐतिहासिक तथा व्यावहारिक दृष्टि अपनाकर उसे गौरवान्वित किया गया है। प्रगतिवादी तथा नई कविता के आलोचकों ने हिन्दी समीक्षा को नवीन दृष्टि से देखा है। संरचनात्मक दृष्टि—बोध तथा पश्चिमोन्मुखी धारणा से अपने को पूर्णतया जोड़ते हुए शैलीवैज्ञानिक समीक्षा का द्वार खोला गया है और पुनः नई समीक्षा के नाम पर बहुत कुछ लिखा गया है ।

शब्दाकर्षण शैली की अवधारणा नवीन है। मौलिक है। किसी मान्यता अथवा स्थापना का विरोध हो या न हो, पर अपना मार्ग अपने अनुसार प्रशस्त किया गया है। भारतीय एवं पाश्चात्य समीक्षा शैलियों की गतानुगतिकता को तोड़ते हुए अपनी स्थापना का प्रयास किया गया है। जहाँ कहीं संगति बिठाई भी गई है वहाँ वैज्ञानिक प्रयास किया गया है। इस प्रकार अपने मन्तव्य की पुष्टि में नवीनता लाने का यत्न किया गया है। आचार्य रामचन्द्र, शुक्ल और शुक्लोत्तर समीक्षा के विविध विद्वानों की लम्बी शृंखला है। बड़े आलोचकों में डा. रामविलास शर्मा, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ. नागेन्द्र, डॉ. नन्द दुलारे वाजपेयी, डा. राकेशगुप्त, डॉ. नामवर सिंह आदि है।

शब्दाकर्षण शैली का स्वरूप कुछ इस प्रकार निर्मित किया गया है कि आलोचना की अन्य अवधारणाएँ इसमें पूर्णतः अन्तर्लीन हो जाएँ। विचारों का झमेला उत्पन्न करना और बात है और काव्य समीक्षा करना और बात। काव्य की मान्यता अटूट है उसके स्वरूप का विरोध क्या किसी रूप में सम्भव है? युग—विशेष में काव्य का स्वरूप बदल जाएगा, लेकिन वह काव्य ही रहेगा, यदि वह काव्येतर हो जाता है तो उसकी समीक्षा भी अपनी दिशा बदल लेगी। शब्द, आकर्षण और शैली के अभाव में किसी युग की रचना, काव्य नहीं हो सकती। शब्द के अभाव में जन्म

लेना भी सम्भव नहीं है। काव्य की सार्थकता तभी है जब उसमें आकर्षण हो। शैली भावों के तन्तुओं से निष्पन्न होती है। भाषायी संचेतना उसकी धुरी होती है। इस प्रकार शब्दाकर्षण शैली संरचना, आकर्षण और भावों से सम्पुष्ट होकर ही आगे बढ़ती है। किसी युग की रचना अपनी काव्यात्मक सृष्टि में इन तीन तत्त्वों से सार्थकता प्राप्त करती रहेगी। यहाँ किसी एकोन्मुख धारणा के प्रति आग्रह नहीं है।

शब्दाकर्षण शैली की अन्तर्धारा में समीक्षा की अन्य कोटियों को भी समेटा जा सकता है। परिवेशगत प्रासंगिकता को ही लें तथा अन्य इसके सहायक तत्त्वों—मानसिकता, भाषायी संचेतना तथा अर्थानुदेश को संयोजित करें और पुनः कवि के इष्टार्थ—संयोजन को दृष्टि—पथ में रखते हुए किसी प्रगतिशील रचना की समीक्षा आरम्भ कर सकते हैं। नवीन धारणाओं, कल्पनाओं और अनुभूतियों को यहाँ विवेचित किया जा सकता है। मानवीय संवेदनाओं को यहाँ उकेरा जा सकता है। समाज की आर्थिक विषमताओं, जन—जीवन की संत्रस्तता, पीड़ा, संघर्ष, दारिद्र्य एवं समृद्धि की व्याख्या की जा सकती है। भाषायी संचेतना समाज—परक होती है। अर्थानुदेश कृति में निहित काव्य— मूल्यों की विस्तृत पट—भूमि है। अर्थ की सम्पूर्ण सम्भावनाओं का प्रकाशन अर्थानुदेश के द्वारा ही सम्भव है और काव्य अर्थ से रहित नहीं होता इसी प्रकार समीक्षा की अन्य कोटियों में निहित अवधारणाओं का प्रकाशन शब्दाकर्षण शैली के द्वारा सर्वथा सम्भाव्य है ।

द्वितीय अध्याय

शब्दाकर्षण शैली : चिन्तन के विविध आयाम

प्रकरण 1 :

मानसिकता का तेवर

मन और आकर्षण का शाश्वत सम्बन्ध है । आकर्षण और शब्द–विधान काव्य–सर्जना के मूल कारणों के अभिन्न अंग हैं । मानसिकता का प्रसंग कवि की प्रतिभा और व्यक्तित्व से सम्बद्ध है । काव्य का मर्म कवि की मानसिकता (प्रतिभा, प्रवृत्ति, रुचि, संस्कार, धारणा, विचार, चेतना, चिन्तन, युगबोध, दृष्टि–बोध, कल्पना, अनुभूति आदि का समाहार) को उजागर करता है । यदि कवि की मानसिकता निर्बल हुई तो उसका काव्य भी निर्बल होगा । भावपक्ष की अन्तःधारा शैली पक्ष की अन्तःधारा से उचित संयोजन तभी कर पाती है जब कवि की मानसिकता स्पष्ट और सुलझी हुई हो । उलझन और बिखराव से मुक्त मानसिकता काव्य को नूतन दृष्टि – बोध से जोड़ती है । गहन विषयों के प्रतिपादन में कवि बहुत सावधान रहता है । भाव एवं विचार के आवेग में युक्त रचनाओं में वह डूबता भी है और उतराता भी है । ऐसी स्थिति में काव्य–भंगिमा रचनाकार के व्यक्तित्व और प्रतिभा को अपने में समाविष्ट किए रहती है ।

रचनाकार के दृष्टिकोण उसके विचार एवं भावों का रचना में सम्यक् प्रक्षेपण होता है । इस प्रक्षेपण की स्थिति में वह अपने मानसिक धरातल को गति–शील बनाए रखता है । रचना का चिन्तन – प्रधान होना, नीरस और सरस होना, युगानुरूप और युग – विरुद्ध होना सब कुछ उसके रचयिता की मानसिकता पर निर्भर करता है । शायद ही कोई ऐसा कवि या लेखक हो जो अपनी रचनाओं को श्रेष्ठ गुणों से युक्त न करना चाहता हो ।

रचनाकार अपने भावों एवं विचारों के आवेग को चेतना की दीप्ति से युक्त करना चाहता है, यह उसकी सहज प्रवृत्ति है । निर्बल मानसिकता से युक्त अनुभूतियाँ व्यापक काव्य की सर्जना में श्लथ हुआ करती हैं। सफल रचनाकार परानुभूतियों को स्वानुभूति बनाकर उसे संरचनात्मक रूप देता है। वाल्मीकि से

सम्बन्धित क्रौंच–वध का प्रकरण इसी प्रकार का है। क्रौंच की पीड़ा को आत्मसात कर उनका कवि बोल उठा–– "मा निषाद ....।'

साहित्य और परिवेश का व्यापक सम्बन्ध है। परिवेश का प्रभाव हमारी मानसिकता को उद्वेलित करता है। समाज और मानवेतर जगत् से उत्पन्न परिस्थितियाँ रचनाकार की मानसिकता को छूती हैं। युगीन परि– स्थितियों के प्रभाव से रचनाकार तद्नुरूप अपना निर्माण करता है। यह निर्माण सामंजस्य का भी हो सकता है और विरोध का भी। सामंजस्य से उत्पन्न मानसिकता और विरोध से उत्पन्न मानसिकता की कोटियों में अन्तर पाया जाता है।

रचनाकार का दृष्टिकोण मूलतः उसकी मानसिकता का प्रतिबिम्ब होता है। तुलसीदास और सूर की भक्ति में, जायसी और कबीर के निर्गुण दर्शन में इसी मानसिकता का प्रभाव है। वे एक दूसरे से मिल नहीं सकते। युगीन सन्दर्भों के प्रकाशन में नवीनता का उन्मीलन रचनाकार को अभिप्रेत हुआ करता है, किन्तु प्रत्येक रचनाकार की मानसिकता ऐसी होगी ही, यह नहीं कहा जा सकता ।

रचनाकार का मानसिक धरातल यदि जटिल न हो तो पाठक उसकी संरचनात्मक शक्ति एवं भावनात्मक चेतना को तत्काल ग्रहण कर लेता है। संरचनात्मक शक्ति का प्रभाव रचना के मन्तव्य को लोच एवं आकर्षण से भर देता है। किसी भी रचना के दो छोर होते हैं। एक संरचनात्मक और दूसरा प्रभावात्मक। रचनाकार की मानसिकता प्रथमतः तो संरचनात्मक छोर से गहन टक्कर लेती है और पुनः वह प्रभावात्मक छोर की ओर उन्मुख हो जाती है। ऐसी स्थिति में रचनाकार की मानसिकता एकोन्मुखी नहीं हो सकती, क्योंकि वह संरचनात्मक बल से ही भावनात्मक बल उत्पन्न किया करती है ।

चाहे परिवेश का चित्रण हो, चाहे किसी स्थिति का निरूपण हो, चाहे मन की उत्ताल तरंगों की आनन्दानुभूति हो, चाहे तर्क–वितर्क, चिन्तन–मनन की क्रिया हो रचनाकार को सावधान होना ही पड़ता है।

उसकी यह सावधानी मानसिकता से नियंत्रित रहती है। रचनाकार शक्ति की फिसलन, प्रभावात्मक शक्ति को विघटित कर देती है। उसके मस्तिष्क में सृजन के क्षणों में एक विचित्र आकर्षण उत्पन्न हो जाता है–– वह उस मन्तव्य के लिए जूझता है जिसे काव्य कहते हैं। काव्य का संरचनात्मक पक्ष आयास मूलक होता है जबकि उसका प्रभावात्मक पक्ष आयास से रहित होकर ही काव्यानुभूति कराने में

समर्थ होता है।

मनोवैज्ञानिकों ने मनोवर्ग के झमेले उत्पन्न किए हैं। इन मनोवर्गों के आधार पर किसी रचनाकार के व्यक्तित्व का मूल्यांकन साहित्यिक चिन्तन के अनुकूल नहीं पड़ता है। अन्तर्मुखी व्यक्तित्व कब और क्यों किसी कवि या लेखक में उभरा यह तो उसके व्यक्तिगत जीवन से समझा जा सकता है, पर यदि कोई अर्न्तमुखी कवि बहिर्मुखी व्यक्तित्व के अनुरूप क्रिया करने लगे तो उसकी विगत और वर्तमान की मानसिकता के परिप्रेक्ष्य में किस सूक्ष्म मानदंड के आधार पर उसके व्यक्तित्व का निरूपण किया जाए और यदि उसके व्यक्तित्व को उभयमुखी मान लिया जाए तो कौन– सा ऐसा सन्तुलन–बिन्दु है जिसपर उसके व्यक्तित्व की सही पहचान हो सकती है? काव्यालोचन के लिए मनोविज्ञान के आधार निर्बल और भ्रमपूर्ण हैं। फ्रायड, एडलर और युंग की मान्यताएँ मनोविज्ञान के लिए हैं न कि साहित्यशास्त्र के लिए। साहित्य के लिए ये मान्यताएँ उपस्कारक मात्र हैं।

रचनाकार की मानसिकता एकोन्मुखी नहीं रहती है। वह प्रसंगों के अनुकूल स्रष्टा के चिन्तन, मनन और संवेदन–जगत् से टकराती तथा परिवर्तित होती रहती है। यदि किसी रचनाकार की सम्पूर्ण रचनाओं का अनुशीलन कर कोई मूल्यांकन प्रस्तुत किया जाए तो उसके व्यक्तित्व की एक रूपरेखा उभर सकती है, किन्तु यह रूपरेखा व्यक्तित्व के अनेकोन्मुखी रंगों से दीप्त होगी। उसमें कोई एक ऐसा रंग हो सकता है जिसका प्रभाव अधिक हो। यदि हम मनोविज्ञान के मानदंडों की ओर झाँकेंगे तो युंग की मान्यताओं का लाभ उठाते हुए उसे उसी व्यक्तित्व की झोली में डाल देना चाहेंगे, जिसका रंग अधिक हो। फल यह होगा कि व्यक्तित्व में समाहित अन्य रंगों की अवहेलना हो जाएगी, फिर यह चिन्तन काव्योन्मुखी नहीं होगा। काव्य व्यक्तित्व के अनेक रंगों के सम्मेलन की प्रभावात्मक च्रित्रपटी है।

कवि का भावना–जगत् विस्तृत होता है। उसकी मानसिकता युगीन प्रभावों को ग्रहण कर बलवती बनती है। वर्तमान का परिवेश, विगत का सन्दर्भ और भविष्य का आलोक अपनी त्रिधाराओं सहित समर्थ कवि की वाणी में समा जाते हैं और हम उसके व्यक्तित्व को नापते हैं एक सामान्य मानदंड से, जो एक शास्त्र द्वारा अनुबन्धित होता है, परिसीमित होता है । कवि की मानसिकता और आकर्षण का वैविध्य ही काव्य–जगत् की भाव एवं विचार–चेतना का मानदंड हुआ करता है। उसकी मानसिकता अनुभूति एवं जीवन–दर्शन की विविधताओं से उपजी हुई

कलात्मक चेतना का वरदान होती है।

मानसिकता के वैविध्य का अर्थ यह नहीं होता कि कवि का व्यक्तित्व किसी दृष्टिकोण में बँधकर ही नहीं चलता। दृष्टिकोण स्पष्ट रहता है। यह भी स्पष्ट रहता है कि वह क्या कहना चाहता है, किन्तु व्यक्तित्व अपने रंग बदलता रहता है। 'मानस' का रचयिता कभी राम के तेज का वर्णन करता है तो कभी सौन्दर्य का। कभी उनकी भाग्यहीनता पर अपनी लेखनी चलाता है, तो कभी उनकी कर्त्तव्य–परायणता पर। अब पाठक स्वयं निर्धारित करें कि यह जो रचनाकार की मानसिकता से उभरा हुआ उसका विविधरंगी व्यक्तित्व है, वह कैसा है? मनोविज्ञान के किस चौखटे में उसे जकड़ दिया जाए? मुक्तिबोध की रचनाओं का अध्ययन करें तो पता चलेगा कि कभी उनकी चिन्तनशीलता इतनी गम्भीर हो जाती है कि एक ही रचना 'अँधेरे में' कई आलोचकों को कई तरह से भटका देती है। जब रचना की अर्थ–दिशा की खोज में ही लोग भटक गए तो रचनाकार के व्यक्तित्व के लिए कौन–सा मानदंड निर्धारित कर देंगे? यह सत्य है कि मनोवैज्ञानिकों की झोली बहुत विस्तृत है, पर साहित्य का क्रोड उससे भी अधिक विस्तृत और सूक्ष्म है।
बाह्य प्रभावों को अपनी इन्द्रियों द्वारा ग्रहण कर शरीर–रचना अन्तर्मानसिकता को सबल बनाती रहती है। बाह्य मानसिकता क्रिया– प्रतिक्रिया के घातों–प्रतिघातों को झेलती हुई अन्तर्मानसिकता से सम्बद्ध हो जाती है। हमारें मनोकोशों में एकत्र भावनाएँ अनुभूति का विषय बन जाती हैं। यही अनुभूतियाँ कल्पना से संयुक्त होते ही सर्जना के क्षणों में अपनी अनन्त शक्ति रचनाकार को प्रदान किया करती हैं।

शब्दाकर्षण शैली का प्रस्थान–विन्दु रचनाकार की मानसिकता से सम्बद्ध है। मानसिक आकर्षण ही शब्द–विधान के लिए उन्मुख होता है। शैली विभिन्न भाव–विचार की सरणियों को अपने में समाहित किए रहती है। भाव और विचार की मानसिकता ही रचना को जन्म देती है। हृदय रचना की सार्थकता से प्रभावित होता है किन्तु यह भी मस्तिष्क के प्रभाव से संवेदन का अनुभव करता है। यह कहना कि काव्य का मूल उत्स हृदय है, भ्रान्ति पूर्ण है। रचना का मूल उत्स मस्तिष्क होता है। जैसे कठपुतली के नृत्य का आनन्द लेने वाला दर्शक यह कह उठता है, "अहा ! कठपुतली कैसा सुन्दर नृत्य कर रही है !" उसी प्रकार काव्य का पाठक अथवा श्रोता यह कह उठता है, "अहा ! कैसी भव्य रचना कवि के हृदय से निःसृत हुई

है।" वस्तुस्थिति इससे भिन्न होती है। कठपुतली का दर्शक यह समझने में भूल कर जाता है कि कठपुतली का सारा नृत्य सूत्रधार के हाथों का कमाल है। काव्यानुभूति के क्षणों में काव्य के श्रोता अथवा पाठक की स्थिति भी कुछ ऐसी ही होती है ।

समीक्षा की कसौटी भी युगीन धारणाओं के अनुकूल होती है। आज का वैज्ञानिक युग बौद्धिक चेतना को स्वीकार कर चुका है। मानव– मस्तिष्क का प्रभाव जीवन के प्रत्येक पहलू को छू रहा है। शब्दाकर्षण शैली में—शब्द, आकर्षण और शैली–तत्त्व कवि की मनोभूमि के मुख्य उपादान हैं जिनके बिना काव्य–सर्जना सम्भव नहीं । यह मनोभूमि संकीर्ण होने पर स्वार्थबद्धता तक सीमित रह जाती है। संकीर्ण मनोभूमि भाव– विचारधाराओं की परिधि का विस्तार नहीं कर पाती है। आज रचनाकार और समीक्षक दोनों को 'वाद' के संकुचित दायरे से अलग होकर जीवन के निकट आना है। जीवन के निकट आने के लिए मानवीय गुणों की उदात्त चेतना के प्रति समर्पण अनिवार्य होगा। यह समर्पण उक्त गुणों के प्रति आकर्षक न होने पर थोथा सिद्ध होगा।

आलोचक की मानसिकता रचनाकार की मानसिकता के व्यापक सन्दर्भों को उसके भाव–विचारों के परिप्रेक्ष्य में उल्लिखित करना चाहती है। उसे निरूपण के शाण पर चढ़ाना चाहती है। आलोचक की गहरी संवेद्य– शक्ति के स्पर्श से काव्य का रहस्य खुलता है। उसकी भी अपनी एक मानसिकता होती है। वह भी लोक – जीवन की विभिन्न क्रियाओं– प्रतिक्रियाओं, घातों–प्रतिघातों से अनुभव प्राप्त करता है। उसकी निरीक्षण– शक्ति कवि की सतही कल्पनाओं एवं भावनाओं पर प्रहार किया करती है। उदाहरणार्थ साठोत्तरी, हिन्दी काव्य में उभरी अश्लीलता की पंकिल विचारानुभूतियों को देखकर आलोचक की मानसिकता उद्वेलित हो उठती है। यद्यपि यह अनिवार्य नहीं कि सभी आलोचक एक जैसे हों, पर नैतिक मानदंडों, प्रकरण–बद्ध विचारों; अनुभूति–जन्य संवेदनाओं का प्रभाव सब पर पड़ता है। आलोचक का मस्तिष्क उस कसौटी के सदृश होता है जिस पर स्वर्ण को आँकते ही उसकी एक रेखा उस पर अवश्य उभर आती है । कभी–कभी सर्जक की अपेक्षा आलोचक अधिक बौद्धिक, सहृदय और प्रखर पैठ वाला प्रतीत होता है। सर्जक में संवेग की तरंगों का प्रवाह होता है और आलोचक में सर्जना–बिम्बों के ग्रहण की समधिक भावानुभूतिक चेतना। कल्पना की उड़ान और विचारों से समन्वय करती हुई कवि की चिन्तनशीलता शब्दाकर्षण में बँधकर

रूपायित होना चाहती है। प्रसंगोचित मौलिकता और परिवेशगत प्रासंगिकता की डोर उस पर अदृश्य नियंत्रण का जाल बिछाती है। आलोचक भी अपनी सीमाओं में बँधा होता है। उसे अर्थानुदेश की शृंखलाएँ जकड़े रहती हैं। यह कहना कि कवि निरंकुश होता है— कुछ प्रतिशत ही सत्य है और यह कहना कि आलोचक सदैव कवि की भाव चेतना को उसी के अनुरूप देखना चाहता है— सोलह आने सत्य नहीं है। यदि कवि अपनी भावनाओं को व्यक्त करने के लिए स्वतंत्र है तो आलोचक भी अपने विचार व्यक्त करने के लिए स्वच्छन्द। कवि और आलोचक समदृष्टि की एकतानता में बँधकर चलते हैं– यह दोनों की विवशता है। इसी विवशता को तोड़ने के लिए आलोचक कभी–कभी विद्रोह कर बैठता है। कभी–कभी वह कवि की धज्जियाँ उड़ा देता है और कहीं– कहीं कबि की अपेक्षा अधिक मौलिक और चिन्तनशील प्रतीत होता है।

कवि की निरंकुशता के सम्बन्ध में एक–दो बातें और कहनी उचित होंगी। निरंकुश का अर्थ है जो अंकुश स्वीकार न करे। कवि तो शताधिक अंकुशों में बँधा होता है। भाषा का अंकुश, भाव–विचार का अंकुश, मूल्यों के त्याग और स्वीकृत का अंकुश, परिवेश और प्रसंग का अंकुश। इसी प्रकार इष्टार्थ – संयोजन का अंकुश और काव्यगत मनोवैज्ञानिकता का अंकुश। कवि किसी मानदंड अथवा मूल्य को नहीं स्वीकार करता है तो इसका अर्थ यह नहीं कि वह निरंकुश हो गया।

कवि जिस अंकुश को स्वीकार करता है वह अंकुश ही उसके निरंकुश होने की भावना का स्वयं खंडन कर देता है। भाव–विचार और कल्पना के अंकुश उसे नियंत्रित कर जिस अभिव्यक्ति की ओर उन्मुख करते हैं वही उसकी प्रसंगोचित मौलिकता के आवश्यक तत्त्व हैं। भाषा की तोड़–मरोड़, नये शब्दों का सृजन, नये विचारों एवं भावनाओं के प्रति आकर्षण कवि की निरंकुशता के परिचायक नहीं हैं। यह सब उसकी मौलिकता के प्रस्थान–विन्दु हैं। प्रचलित धारणा के विरुद्ध विद्रोह करना कवि का स्वभाव है। स्वभाव प्रवृत्तिमूलक होता है। स्वभाव और निरंकुशता का एक ही अर्थ नहीं है।

संक्षेप में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—इष्टार्थ–संयोजन के प्रति समर्पित होने के कारण, परम्परा–प्रख्यात सन्दर्भों से सम्बन्ध रखते हुए भी प्रसंगोचित मौलिकता के लिए कवि मानसिक संघर्ष करता है। उसका यह मानसिक संघर्ष कुछ ऐसा लगता है कि वह निरंकुश हो उठा है, जब कि व्यवहार–जगत् में

वह अपने स्वभाव के अनुकूल शब्दाकर्षण शैली के अंकुश को स्वीकार करने के लिए बाध्य होता है उसकी यही स्वीकृति उसकी निरंकुशता है। स्वीकृति और निरंकुशता दो विरुद्ध धारणाएँ हैं। नैतिक मानदंडों को न स्वीकार करना निरंकुशता है और काव्य के प्रचलित मानदंडों को न स्वीकार करना अथवा गतानुगतिक न होना विद्रोह है, विपथन है। निरंकुशाः कवयः' अतिशयोक्तिपूर्ण है।

अंकुश नियंत्रण का संकेतक है। काव्य की रचना में कवि पर अनेक नियंत्रण प्रभावी रहते हैं। उपर्युक्त तथ्यों द्वारा इसे पुष्ट किया गया है। मानसिक क्रिया–व्यापार, रचना के स्वरूप का निर्धारण करते हैं। अन्तर्मानसिकता के जागृत भाव बोध स्वरूपात्मक भाव–बोध बन जाते हैं। काव्य का स्वरूप अन्तर्मानसिकता का भावोच्छ्वास है। काव्य का सटीक भाव–बोध अन्तस्थ का प्रस्फुटित आलोक है। कवि या रचनाकार की योग्यता, आकांक्षा, अनुभव, भाषा–ज्ञान आदि वे विन्दु हैं जो उसे नियंत्रण से बाहर जाने पर रोकते हैं। अतः कवि पर 'अंकुश' होता है इस तथ्य को विस्मृत नहीं किया जा सकता है।

प्रकरण 2 :

अन्तर्द्वन्द्व

मानसिकता हमारे शील का मुख्य अंग है। शील द्वारा उद्घाटित विचार और कल्पनाओं की रूपरेखाएँ हमारी मानसिकता की उपज होती हैं। हमारे सम्पूर्ण व्यक्तित्व को आच्छादित करने वाला 'शील' हमारी मानसि– कता पर अनवरत अपना प्रभाव बनाए रखता है। हमारी मानसिकता भावनाओं के सन्दर्भ में बहुमुखी हुआ करती हैं। लोकसापेक्ष जीवन से सम्बद्ध नैतिकताओं, आदर्शों, मान्यताओं एवं वैयक्तिक भावनाओं की रक्षा के लिए हम संघर्ष करते हैं। इस प्रकार के संघर्षों के प्रति हमारी रुचि, विवशताएँ एवं आकर्षण हुआ करते हैं फलतः हमें अन्तर्द्वन्द्वों के परिपथ से होकर गुजरना पड़ता है। अन्तर्द्वन्द्व के विषय में कुछ लिखने के पूर्व एक बार यह कहना समीचीन प्रतीत होता है कि 'शब्दाकर्षण शैली' में जिन मानसिक व्यापारों अथवा क्रियाओं को अध्ययन का विषय बनाया गया है वे काव्यगत मनोवैज्ञानिकता के परिप्रेक्ष्य में हैं, मनोविज्ञानगत काव्यात्मकता के नहीं। शब्दाकर्षण शैली में निरूपित अन्तर्द्वन्द्व और मनोविज्ञान में निरूपित अन्र्त्तद्वन्द्व में विचित्र समानता यह है कि दोनों आकर्षण से प्रभाव ग्रहण करते हैं। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक

कुर्ट लेविन (Kurt Lewin) के वर्गीकरण में यह तथ्य समाहित है ।

अन्तर्द्वन्द्व हमारी मनःस्थिति को अपने प्रभाव से झकझोर देते हैं। उलझन, असमंजस, संशय, तनाव, घुटन, संत्रास, भय, आशंका, क्षोभ आदि विविध मनोद्वन्द्वों को झेलता हुआ आज का मानव द्विविधा–ग्रस्त परिवेश में जीने के लिए बाध्य है । अन्तर्द्वन्द्वों की विविध कोटियों का हम साहित्यिक परिप्रेक्ष्य में इस प्रकार विभाजित कर सकते हैं —

1—कामद अन्तर्द्वन्द्व (Comedic Conflict)

2—त्रासद अन्तर्द्वन्द्व (Tragic Conflict)

3—दुसूभय अन्तर्द्वन्द्व (Tragicomedic Conflict)

गद्य की विविध विधाओं में अन्तर्द्वन्द्व का अच्छा रूप दिखाई पड़ता है। नाटक, कहानी, उपन्यास आदि में तो इसे अब अधिक सबल रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है। दृश्यकाव्य में अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण अधिक संजीदगी (Sobriety) उत्पन्न कर देता है।

आज का युग अनेक प्रकार की कुंठाओं से ग्रस्त है। इसलिए भी, अन्तर्द्वन्द्व की भूमिका एवं स्वरूप का अनुशीलन आवश्यक हो गया है। अस्तित्ववादी दर्शन के क्रोड में तो मनोद्वन्द्व का अविचल प्रभाव है। सम– कालीन कविता ने इस अन्तर्द्वन्द्व को पहचाना है । इसका आशय यह नहीं कि प्राचीन काव्य में इस अन्तर्द्वन्द्व की छटा नहीं है। प्राचीन कवियों ने अन्तर्द्वन्द्व की इस आकर्षक भूमिका को बहुत पहले समझा था। वाल्मीकि, कालिदास, चन्दबरदाई, विद्यापति, जायसी, सूर, तुलसी, बिहारी, घनानन्द, 'हरिऔध', मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकर 'प्रसाद', 'निराला', भवानीप्रसाद मिश्र, नरेश मेहता, नागार्जुन, मुक्तिबोध आदि की रचनाओं में अन्तर्द्वन्द्व की छटा देखी जा सकती है।

कामद अन्तर्द्वन्द्व हमारी सुखानुभूतियों से जुड़ा रहता है। हम कुछ समय के लिए आनन्द निमग्न हो जाते हैं। हमारी आन्तरिक भावनाएँ, सुखद संवेगों एवं विचारानुभूतियों के सम्पर्क में आते ही खिल उठती हैं। यथा —

वा निरमोहिनि रूप की रासि जऊ उर हेतु न ठानति ह्वै है ।
बारहि बार बिलोकि घरी घरी सूरति तो पहिचानति ह्वै है ।
ठाकुर या मन की परतीति है जो पै सनेह न मानति ह्वै है ।
आवत हैं नित मेरे लिए इतनो तो विशेष कैं जानति ह्वै है ।

(ठाकुर)

त्रासद अन्तर्द्वन्द्व पाठक पर व्यापक प्रभाव डालता है। पाश्चात्य काव्य–शास्त्रियों ने त्रासदी (Tragedy) को विशेष महत्त्व दिया है। त्रासद अन्तर्द्वन्द्व मन को गहरी पीड़ा से भर देता है। लगता है सब कुछ मन को छू–सा गया है। मनोद्वन्द्व की यह स्थिति रचनाकार की कृति को अधिक सशक्त बनाकर मानवीय करुणा का निष्पादन करती है। त्रासद अन्तर्द्वन्द्व का वर्णन बहुत कवियों ने किया है। इसमें मस्तिष्क का तनाव बढ़ जाता है। टूटन, संशय, व्यथा, अवसाद और चिन्ता की रेखाएँ रचना में साफ – साफ उभर आती हैं। 'मानस' में राम–वनगमन की बेला में दशरथ की मनःस्थिति को इसी रूप में अंकित किया गया है। 'कामायनी' के आरम्भ में मनु का अवसाद त्रासदी व्यंजना के अन्तर्गत ही रेखांकित हुआ है। मनु का मिलन श्रद्धा से होता है। कालान्तर में मनु के पलायन से उपजा हुआ श्रद्धा के विरह का अवसाद ऐसा ही है। एक ही पात्र में भिन्न–भिन्न स्थितियों में भिन्न–भिन्न प्रकार के मनोद्वन्द्वों का रूप दिखाई पड़ सकता है। यह योजना एक साथ भी प्रस्तुत की जा सकती है और अन्तराल देकर भी। मुक्तक रचनाओं में अन्तर्द्वन्द्वों की कोटियों की तात्कालिक व्यंजना हो जाती है किन्तु प्रबन्ध रचनाओं में यह विस्तार पकड़ लेती है। यह विस्तार अन्तःसम्बद्ध भी हो सकता है और पृथक्–पृथक् भी ।

दुसूभय अन्तर्द्वन्द्व का महत्त्व भारतीय काव्य में अधिक समादृत रहा है। दुसूभय अन्तर्द्वन्द्व का आशय है– दुःख और सुख दोनों की अन्तःसम्बद्ध योजना। जब किसी कृति के एक अथवा एक से अधिक पात्रों में दुःख और सुख दोनों प्रकार के अन्तर्द्वन्द्वों का अन्तःसम्बद्ध चित्रण प्रस्तुत किया जाता है तो वह 'दुसूभय अन्तर्द्वन्द्व' की कोटि में आता है। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' इस दृष्टि से श्रेष्ठ दृश्य काव्य कहा जाएगा। 'कामायनी' का अन्तिम स्वरूप भी दुखद स्थिति को समेटता हुआ सुखद भाव (आनन्द) को प्रतिष्ठित करने में सफल हुआ है। जगन्नाथदास 'रत्नाकर' का 'उद्धव शतक' इसका अच्छा उदाहरण है। 'उद्धव शतक' में संयोग का आनन्द न होते हुए भी सन्देश–जन्य आनन्द का प्रवाह है। संयोग का अभाव त्रासद अन्तर्द्वन्द्व के रूप में उभरा है और सन्देशजन्य आनन्द कामद अन्तर्द्वन्द्व के रूप में । उपर्युक्त तीनों प्रकार के अन्तर्द्वन्द्व तीन प्रकार के भाव–केन्द्रों में विभाजित हो जाते हैं। देखें—

1—कामद भाव–केन्द्र (Centre of Comedic Sentiment)

2—त्रासद भाव–केन्द्र (Centre of Tragic Sentiment)

3—दुसूभय भाव–केन्द्र (Centre of Tragicomedic Sentiment)

अन्तर्द्वन्द्व की परख आज की समीक्षात्मक शैली के लिए अति आवश्यक हो गई है। आज का रचनाकार जगत् की पीड़ा और द्वन्द्व को अपनी रचना का कथ्य बनाने में गौरव का अनुभव कर रहा है। विभिन्न काल की रचनाओं में अन्तर्द्वन्द्वों का व्यापक चित्रण हुआ है। कवि मानव स्वभाव के अंकन के साथ मानवेतर जगत् की मनोद्वन्द्वात्मक व्यथा का भी अंकन किया करता है। निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं–

जासु वियोग विकल पशु ऐसे ।
प्रजा मातु–पितु जीवहिं कैसे ।
(तुलसी : रामचरितमानस)

अर्न्तद्वन्द्व की भूमिका व्यापक है। भावना की विविध कोटियों में अर्न्तद्वन्द्वों का प्रसार पाया जाता है ।

प्रकरण 3 :

काव्यगत मनोवैज्ञानिकता

काव्य का धरातल लोक–जीवन के सन्दर्भों के प्रकाश से प्रतिबिम्बित होता है। मानव के अन्तर्मन पर जीवन के विविध पक्षों का व्यापक प्रभाव पड़ता है। उसकी मानसिकता की स्वस्थता–अस्वस्थता का रूप उसकी गतिविधियों द्वारा प्रकट होता रहता है। रचनाकार का भाव– जगत् भी संसार के विषम अन्तर्द्वन्द्वों से जूझता रहता है ।

कवि की सर्जनात्मक चेतना मनोविज्ञान को यथावत् स्वीकार नहीं करती है। काव्यगत मनोवैज्ञानिकता और मनोविज्ञान के भावना–जगत् में अन्तर पाया जाता है। रचनाकार का जीवन–दर्शन, काव्य–दर्शन की आन्तरिक भावना से अनुप्राणित होता है। चेतना के सूक्ष्म कण उसकी मानसिकता को घेरते हैं। उसका मनोक्षितिज उन सूक्ष्म कणों से आवृत होने के कारण अपनी अस्मिता को जीवन के स्वाभाविक किन्तु गूढ़ और गम्भीर पहलुओं से ओत–प्रोत किये रहता है ।

रचनाकार के जीवन–दर्शन की अनन्त किरणें शैली के प्राणवन्त

भावना–लोक को प्रतिबिम्बित करती रहती हैं। रचनाकार अपनी प्रत्येक सन्दर्भीय मनःस्थिति को काव्यात्मक शैली में रेखांकित करना चाहता है। उसका मनोविज्ञान अनुभूत्यात्मक धरातल को स्पर्श करता हुआ आगे बढ़ता है। काव्यगत मनोवैज्ञानिकता रचनाधर्मिता का कायाकल्प है। कवि को जब तक आन्तरिक मानसिकता का चुम्बक अपनी ओर आकृष्ट नहीं करता तब तक उसकी अशक्तता ही परिलक्षित होती है। आन्तरिक मानसिकता के चुम्बक से आकृष्ट रचनाधर्मिता अनुभूति की तरलता, विश्वास की कान्तिमयता, यथार्थ की सहजता एवं भावना की गहराई से अनुप्राणित होती है।

कोरे मनोविज्ञान से भिन्न कवि का एक अपना मनोविज्ञान होता है। उसका अपना एक जीवन–दर्शन होता है। उसका यह मनोविज्ञान जीवनानुभूतियों का प्रकाशबिम्ब होता है। रचनाकार किस भावना की बुनावट किस शैली में प्रस्तुत करना चाहता है, यह निर्भर करता है उसके जीवन– दर्शन की काव्यगत मनोवैज्ञानिकता पर। भावानुभूतियाँ रचनाकार को सर्जना के क्षणों में अपने में आबद्ध कर लेती हैं। वह काव्यगत मनोवैज्ञानिक घेरे से होकर गुजरता है। सक्षम रचनाकार का प्रस्तुतीकरण कोरा मनोविज्ञान नहीं होता है। वह जीवन–दर्शन के महत् भावनालोक को रेखांकित करते हुए पूर्ण सतर्क रहता है। रचना में शैली की गम्भीरता, कसाव तथा प्रांजलता का पुट देकर उसे व्यंजक एवं आकर्षक बनाता है। जब तक रचनाकार की मानसिकता का संवेद्य आलोक, सूर्य के प्रतिबिम्ब के समान एक साथ ही जीवन के धरातल को प्रदीप्त न कर दे, तब तक वह स्तुत्य नहीं। भावना की सघनता एवं काव्यात्मक मनःस्थिति का रंग चटकीला हो तो रचना में संवेदनशीलता का गुण स्वयं समाविष्ट हो जाता है। आक्सीजन के प्रभाव से जैसे फास्फोरस एकाएक जल उठता है, वैसे ही रचनाकार की मानसिकता काव्यगत मनोवैज्ञानिकता के प्रभाव से प्रदीप्त हो उठती है। अर्थदीप्ति का कारण रचनाकार के व्यक्तित्व से अन्तर्ग्रथित उसकी भावनाभूमि है और यह भावनाभूमि यदि कोरे मनोविज्ञान के ढाल से अपनी रक्षा करती हुई काव्यगत मनोवैज्ञानिकता को नकार देती है तो कोई रचना अहं, काम, आत्मस्थापना एवं आत्महीनता के नानाविध रूपों को भले ही उद्घाटित करे, वह काव्यगत मनोवैज्ञानिकता का क्षितिज स्पष्ट नहीं कर सकेगी। 'सूरसागर' की अधोलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं —

मेरे मन इतनी सूल रही।
वै बतियाँ छतियाँ लिखि राखीं जे नंदलाल कहीं।
एक दिवस मेरे गृह आए मैं ही मथति दही।
देखि तिन्हैं मैं मान कियो सखि सो हरि गुसा गही।
सोचति अति पछितात राधिका मूर्छित धरनि ढही।
सूरदास प्रभु के बिछुरें तें बिथा न जाति सही।

इन पंक्तियों में निहित अन्तर्व्यथा की गहराई को कोरे मनोविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में देखने पर काव्यगत मनोवैज्ञानिकता का रस–बन्ध ही टूट जाएगा। कहाँ मनोविज्ञान और कहाँ काव्यात्मक मनःस्थितियाँ ! कहाँ रतिजन्य विरह–व्यथा और कहाँ काम–दमन की नीरस चर्चा !

उपर्युक्त पंक्तियों में स्मरण का वेग पूर्णतया संचरण कर रहा है। राधा; कृष्ण की बातें हृदय में अंकित किए हुए हैं— 'वै बतियाँ छतियाँ लिखि राखीं जे नन्दलाल कहीं।' जितनी कोमल बातें हैं कहीं उससे भी अधिक कोमल राधा का हृदय है। कवि नारी की अन्तर्व्यथा को काव्यगत मनोविज्ञानिकता के द्वारा व्यक्त कर रहा है। 'नन्दलाल कहीं' अत्यन्त सार्थक है। नन्दलाल शब्द में, 'लाल' का क्या अर्थ है? इसका उत्तर मनोविज्ञान के पास नहीं है। 'बिथा न जात सही' की अन्तर्ध्वनि का उत्तर मनोविज्ञान नहीं दे सकता है ।

बोधा का कवि इसका उत्तर इस प्रकार देता है —

'सहते ही बनै कहते न बनै,
मन ही मन पीर पिरैबै करै ।'

दोनों कवियों के भावों के दो छोर होते हुए भी अन्तर्व्यथा की कथा एक–सी है। जिस प्रकार फास्फोरस के जलने के लिए आक्सीजन चाहिए उसी प्रकार रचनाकार की, सर्जनात्मकता के लिए, भाव और चेतना की सघन अनुभूतियों का काव्योन्मुख मनोवैज्ञानिक आलोक चाहिए। यह मनोवैज्ञानिकता जटिल और संश्लिष्ट नहीं होनी चाहिए। जानबूझ कर जटिल और संश्लिष्ट मनोवैज्ञानिकता को रेखांकित तो किया जा सकता है किन्तु काव्याकर्षण पर पड़ने वाले उसके अपघाती प्रभाव से भी उसे बचाया नहीं जा सकता है।

कोरी मनोवैज्ञानिकता काव्य–जगत् के लिए नहीं है। उसका सन्दर्भ और क्षेत्र कुछ और है। रचनाकार की मानसिकता (अनुभूतियाँ, आत्म–चेतना, जीवन–दर्शन, चिन्तन और भावना) का आलोक काव्यगत मनोवैज्ञानिकता से

सम्बद्ध है, मनोविज्ञान से नहीं।

सहानुभूति, सह–अनुभूति, तद्नुभूति, सम्प्रेषणीयता, तथा साधारणीकरण सबके मूल में जीवन को प्रभावित करने वाली, ज्ञान की विभिन्न शाखाओं, विधाओं तथा शास्त्र कलाओं के साथ–साथ काव्यगत मनोवैज्ञानिकता की समानुभूति का तरल प्रवाह रहता है। जीवन की विभिन्न विच्छिन्न अनुभूतियों को एकसूत्रता की सघन बुनावट में पिरोना सर्जनात्मकता की पहली पहचान है। रचनाकार अनुभूतियों के सम्पूर्ण बिम्ब, प्रवाह, गति, ध्वनि को एक साथ क्रमबद्ध, सुगठित एवं लयात्मक संगति (लय की संगति से आशय नहीं है, आशय है उन सम्पूर्ण तथ्यों से जो रचनाधर्मिता को सही दिशा, भाव–बोध, एवं आन्तरिक संगति प्रदान करने में सक्षम सिद्ध होते हैं) में रेखांकित करना चाहता है। इसके लिए वह विभिन्न शास्त्रों की ज्ञानराशि का उपयोग करता है।

सुख, यौन–लिप्सा, चेतना, चिन्तन, भावना, अहं, काम, राग सबको काव्यगत मनोवैज्ञानिकता, रचनाधर्मिता की दृष्टि से, प्रभावित करती है। रचनाकार इन घटकों से अलग कोई विशिष्ट व्यक्तित्व लेकर नहीं जीता है। रचनाकार की अनुभूतियों में उसके जीवन–दर्शन की एक झलक होती है। यह झलक विविध रूपों में प्रकाश पाना चाहती है। मनोविज्ञान का दर्शन इसमें सहायक बनता है। बस, इतना ही मान्य है।

कुंठा, आत्महीनता, काम–जनित वासना, आत्म–स्थापना, अहं आदि के आलोक में किसी रचना की समीक्षा की जा सकती है। एक गढ़े हुए चौखटे में, जो परावलम्बी है—– मनोविज्ञान पर आश्रित। काव्य–समीक्षा में मनोविज्ञान के सूत्र–संयोजन की परख की जा सकती है किन्तु मनोविज्ञान के सूत्र–संयोजन में काव्य को बाँधना मनोवैज्ञानिक भूल होगी। काव्य स्वतंत्र है, वह किसी शास्त्र के गुण–सूत्रों से उलझ सकता है, बँध नहीं सकता।

काव्यगत मनोवैज्ञानिकता के सूत्र—–मानसिकता तथा उसके विविध घटक—–जीवन—–दर्शन के जटिल सन्दर्भ, अन्तर्द्वन्द्व, संवेदन, अन्तःप्रज्ञा, चिन्तन, स्मृति, कल्पनाशीलता, जिजीविषा, परिवेश आदि को आधार मानकर ही किसी कृति की समीक्षा स्वाभाविक होगी। मनोविज्ञान के आधार पर बखेड़ा खड़ा करना काव्य की समीक्षा नहीं कहलाएगी। अहं, वासना, कुंठा, हीन–ग्रन्थि आदि मनोवैज्ञानिक सूत्रों की जटिलताओं को काव्य–समीक्षा का आधार मानना बेमानी है। मनोवर्ग के

जटिल जाल में पड़कर काव्य अपनी समीक्षात्मक पहचान खो देता है। समीक्षा काव्यात्मक आलोक में होनी चाहिए न कि मनोविश्लेषणात्मक परिप्रेक्ष्य में। काव्य को साध्य मान लेने पर मनोविज्ञान स्वयं साधन बन जाता है। मनोविज्ञान काव्य पर लादा नहीं जाना चाहिए। उसे सहायक मानने से ही समीक्षात्मक आकर्षण बना रह सकता है ।

आलोचना के परिप्रेक्ष्य में हमें परखना होगा कि कवि क्या व्यक्त करना चाहता है? उसकी भावभंगिमा कैसी है? उसका दृष्टिकोण साहित्यिक सौन्दर्य से कितना जुड़ा है? वह मनोविज्ञान के धरातल पर कितने अंश का कोण बनाते हुए खड़ा है? आत्म–स्थापना की लाठी भाँजनेवाले हीन मनोग्रंथियों से पीड़ित रचनाकारों की अहं भठ्ठी में पड़कर साहित्य का सारा आकर्षण भस्म हो जाएगा। यदि सब कुछ मनोविज्ञान ही हो गया तो काव्य का मनोविज्ञान कहाँ गया? उसका अस्तित्व क्या हुआ? वात्स्यायन, फ्रायड, युंग और एडलर के अपने–अपने मानदंड हैं। ये साहित्यिक आकर्षण के मानदंड नहीं बन सकते। समाज–सापेक्ष सम्पूर्ण शास्त्रों की मान्यताओं को नकार कर साहित्य को किसी शास्त्र विशेष के कटघरे में नहीं जकड़ा जाना चाहिए। लोग असहमति में सूर के मनोविज्ञान को प्रस्तुत करना चाहेंगे, इसके प्रत्युत्तर में स्पष्ट करना समीचीन रहेगा कि सूर में काव्यगत मनोवैज्ञानिकता का पुट है, मनोविज्ञान गत काव्यात्मकता का नहीं। काव्यात्मकता साध्य है, मनोविज्ञान साधन। सूर की काव्यगत मनोवैज्ञानिकता प्रबल एवं विशिष्ट है। कवि ने बालवर्णन के प्रसंग में बाल–हठ, बाल–धर्म, बाल–स्पर्धा, बाल–भय, वात्सल्य–भाव आदि का सूक्ष्म एवं भावात्मक अंकन किया है। भाव तथा शैलीगत आकर्षण को पुष्ट करने में मनोवैज्ञानिकता सहायक हो गई है । बालसुलभ चपलता, गोचारण की अभिलाषा, मक्खन चोरी, सहज प्रीति, मिलनेच्छा, प्रेमपीड़ा, वियोग–जनित व्यथा आदि से सम्बन्धित मनोव्यापारों की सूक्ष्म पकड़ सूर में मिलती है। वात्सल्य और श्रृंगार के प्रकरणों में सूर की काव्यगत मनोवैज्ञानिकता की श्रेष्ठता परिलक्षित हुई है। यह काव्यानुभूति पहले है, मनोविज्ञान बाद में।

मनोवैज्ञानिक परिवेश भावनात्मक आकर्षण को जागृत करता है। मनोदशाओं के अंकन में शब्द और शैली का आकर्षण स्पष्ट होने लगता है। शब्द, ध्वनि, कथन–भंगिमा, भाषा–प्रवाह इन सबका आकर्षण मनःस्थिति के चित्रण में एक भिन्न ताल, लय, गति, भाव एवं अर्थोत्तेजना से परिपूर्ण हो उठता है।

सामान्य मनःस्थिति में प्रयुक्त शब्दशैली के परस्पर भेद का मूल्यांकन, भावनात्मक आकर्षण के आकलन द्वारा पृथक् किया जा सकता है। काव्यगत मनोवैज्ञानिकता की धुरी संवेदनात्मक आकर्षण से परिचालित होती है। काव्य मानव के मन, जीवनजगत् के अनुभव–सूत्र, विचार–प्रवाह के सम्यक् उद्वेलन, रागात्मक दीप्ति एवं कल्पनात्मक सृष्टि के आकर्षण का सहज स्वरूप है। रचनाकार के मनःक्षितिज से समुदित कल्पना का प्रतिबिम्ब शब्द–प्रति–शब्द में काव्यात्मक मनोविज्ञान का आकर्षक आलोक प्रस्फुटित कर सकता है। इसके लिए रचनाकार का अनुभवगत संसार, प्रसंगानुकूल मनःस्थिति, सर्जनात्मक क्षमता तथा व्यक्तित्व के निर्विघ्न संवेदन की लयात्मकता आवश्यक हुआ करती है ।

इष्टार्थ–संयोजन की पूर्णता के लिए मनोदशाएँ भी उत्तरदायी होती हैं। शृंगार, वीर, अद्भुत, भयानक, शान्त आदि के मूल में मानवीय अन्तश्चेतना का निर्विघ्न प्रवाह है। काव्य का आकर्षण लोक–जीवन के आकर्षण से सम्बद्ध है। मानव–मन के सूत्र भावना के सूत्र से बँधे हुए हैं । दोनों का विच्छेद सम्भव नहीं है। मन का आकर्षण भावना के प्रति है और मानव जीवन का आकर्षण मन के द्वारा परिचालित है। स्थायी और संचारी भावों की कोटियाँ काव्यगत मनोविज्ञान के सूत्र पर अवलम्बित हैं। विचार और अनुभूतियों का संसार काव्यगत मनोवैज्ञानिकता से पुष्ट होने के कारण अपना आकर्षण–बोध जगाने में सक्षम सिद्ध होता है। मनोविज्ञान को काव्योन्मुखी होना पड़ता है और काव्य को मनोविज्ञान के सहज सम्बन्ध को स्वीकार करना पड़ता है। दोनों के सहज सम्बन्ध का यही पारस्परिक आकर्षण है।

प्रकरण 4 :

शब्द – योजना और आकर्षण की प्रक्रिया

शब्द–योजना का कार्य प्रयासमूलक है। कवि अपनी कल्पना और अनुभूति के संयोजन में जितना सहज होता है, शब्द योजना में उतना ही यत्नशील। यह सर्वमान्य है कि जब तक सुवर्ण की प्राप्ति न हो तब तक कल्पना और भाव–जगत् की मानसिकता को प्रतिबिम्बित करने वाली काव्य–मुद्रिका का निर्माण कैसे हो सकता है ? काव्य की सम्पूर्ण निर्मिति का प्रमुख तत्त्व शब्द तथा उसकी योजना है।

शब्द–चयन के लिए कवि को शब्द विशेष के प्रति आकृष्ट होना पड़ता है। आकर्षण के अभाव में अनुकूल शब्द–चयन सम्भव नहीं है। भाव– समृद्धि के लिए तद्नुकूल शब्द–योजना अनिवार्य है। सतर्कता एवं आयास की स्थिति कवि की मानसिकता को शब्द विशेष के चयन के लिए अपने आकर्षण में ले लेती है। शब्द–चयन और मानसिक आकर्षण की प्रक्रिया में गहरा सम्बन्ध है।

शब्द–चयन और आकर्षण की प्रक्रिया के बीच द्वन्द्व का हाथ हुआ करता है। कभी–कभी समानधर्मी शब्द प्रतिस्पर्धा करते हैं। कवि के विचारों से टकराते हैं। ऐसी स्थिति में कवि किस शब्द में अपनी भावना एवं आकर्षण को नियोजित करे यह, उसके लिए एक समस्या होती है। शब्द– चयन और शब्द–विन्यास की यह प्रक्रिया द्वन्द्वमूलक होने के कारण रचनाकार की मानसिकता को संशयग्रस्त कर देती है। उसे कुछ क्षणों के लिए रुक जाना पड़ता है, इस बीच भावानुभूतियों का वेग उसे त्वरित गति से आगे बढ़ने के लिए झकझोर डालता है। बाध्य होकर उसे आगे बढ़ना पड़ता है। कालान्तर में संशोधन की प्रक्रिया भी कभी–कभी वह अपनाया करता है। अर्नेस्ट हेमिंग्वे ने अपने उपन्यास 'वृद्ध व्यक्ति और सागर' (The old man and the sea) का दो सौ बार पुनर्लेखन किया था । 'प्रसाद' ने 'आँसू' के दूसरे संस्करण में संशोधन की प्रक्रिया स्वतः अपनायी थी । मुक्तिबोध अपनी रचनाओं का संशोधन कई बार करने के पश्चात् ही संतुष्ट होते थे । यह प्रवृत्ति प्रायः सभी कवियों एवं लेखकों में पाई जाती है । यहाँ भी शब्दाकर्षण – विधान ही कारण है ।

शब्द–चयन और शब्द विन्यास की क्रिया बहुत गूढ़ एवं व्यापक है। शब्द–चयन ही पर्याप्त नहीं होता है उसका यथास्थान विन्यास भी अनिवार्य हुआ करता है। शब्द–योजना की भूमिका, शब्द–चयन और शब्द– विन्यास दोनों से संचालित है । शब्दाकर्षण – विधान, शब्दों के विविध पर्याय एवं अर्थ की विभिन्न सम्भावनाओं के बीच सामंजस्य बिठाना सामान्य कार्य नहीं है । विविध विषयों का प्रतिपादन शब्द – योजना के अभाव में सम्भव नहीं है।

शब्द–चयन के प्रसंग में भारतीय काव्यशास्त्रियों एवं सम्प्रदायों का नामोल्लेख अनिवार्य है। अलंकार, रस, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति और औचित्य सम्प्रदायों में शब्द का महत्त्व स्वीकार्य रहा है। इन सम्प्रदायों के अन्तर्गत शब्द–योजना को प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष स्वीकृति मिली है। 'शब्द–पाक', 'अवेक्षण'

आदि की चर्चा इसकी पुष्टि करती है। पात्रानुकूल, युगानुकूल और भावानुकूल शब्द–चयन की क्रिया कवि के मानसिक व्यापार एवं कौशल का परिणाम हुआ करती है। संस्कृत नाटकों में एक साथ संस्कृत और प्राकृत भाषाओं का प्रयोग युग और पात्रानुकूल है। यहाँ शब्द–योजना में नाटककार को अधिक सतर्कता से काम लेना पड़ा होगा। रचनाकार की दृष्टि वस्तु, पात्र (संस्कृत–असंस्कृत, वृद्ध, युवा, बाल), परिवेश आदि के अनुकूल शब्द–चयन करने पर ही अपना प्रौढ़त्व सिद्ध करती है। शब्द– चयन की प्रक्रिया वस्तु, भाव और सन्दर्भ के अनुकूल हुआ करती है। शुभ और अशुभ, श्लील और अश्लील, मांगलिक एवं अमांगलिक भावों की प्रस्तुति के लिए शब्द–चयन की प्रक्रियाएँ स्वतः भिन्न हुआ करती हैं। 'काव्यालंकार' के लेखक भामह, 'काव्यालंकारसूत्र' के लेखक वामन, 'ध्वन्यलोक' के लेखक आनन्द वर्धनाचार्य और वक्रोक्तिजीवित' के लेखक कुन्तक ने शब्द की सार्थकता का महत्त्व समझा है।

शब्द योजना इष्टार्थ–संयोजन में सहायक होती है । शब्द – योजना से ही काव्य का अर्थ स्पष्ट होता है । शब्द और अर्थ का सहभाव काव्य में आकर्षण उत्पन्न करता है । शब्द के बिना काव्य सम्भव ही नहीं है । संस्कृत आचार्यों ने काव्य – लक्षणों को प्रस्तुत करते हुए शब्द की व्यापकता को मान्यता दी है—

'शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद् द्विधा' — भामह
'काव्य शब्दोऽयं गुणालंकारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोवर्तते'— वामन
'शब्दार्थो काव्यम्' —रुद्रट
'तददोषौ शब्दार्थो सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि' —मम्मट
'शब्दार्थ शरीरं तावत्काव्यम्' —आनन्दवर्धन
'शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनी ।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यम् ....'— कुन्तक
'रमणीयार्थ प्रतिप्रादकः शब्दः काव्यम्' —– जगन्नाथ

प्रकरण 5 :

शब्द और अर्थ का आकर्षण

काव्यानुभूति के प्रसंग में शब्द और अर्थ एक दूसरे के पूरक हैं। यह विवाद का विषय रहा है कि शब्द और अर्थ में किसका महत्त्व अधिक है। कुछ लोगों ने अर्थ को काव्य की 'आत्मा' स्वीकार कर शब्द से उसे श्रेष्ठ माना है, किन्तु यह धारणा भ्रान्तिपूर्ण है; क्योंकि —

1. शब्द में अर्थ स्फोट की शक्ति होती है।
2. अर्थ शब्द के अनुकूल हुआ करता है। वह शब्द का अनुगमन करता है।
3. शब्द अर्थ–सृष्टि का बाह्य अंग होकर भी रचनाकार की मानसिकता को पहले आकृष्ट करता है।
4. शब्द काव्येतर भाव–विधान का भी वाहक होने के कारण अपनी भाष–शक्ति के द्वारा मानव तथा मानवेतर जगत् को आकृष्ट किए रहता है। जिन नाद–बिम्बों और ध्वनियों का अर्थ हम नहीं समझते हैं उनकी ओर भी हम आकृष्ट होते हैं। नदी के 'कल–कल', पल्लव के 'मर्मर' और पक्षी के 'कुल–कुल' में आकर्षण का यही रहस्य छिपा हुआ है।
5. शब्द बीज–रूप है। रचनाकार की सम्पूर्ण रचनाधर्मिता का बीज़ तत्त्व और अर्थ उसका प्रस्फुटन।

शब्द और अर्थ में परस्पर आकर्षण होता है। कवि कभी शब्द की ओर उन्मुख होता है, कभी अर्थ की ओर। इस द्विविध आकर्षण में वह अन्ततः उस शब्द का चयन करता है जो उसकी मानसिकता के अनुरूप अर्थद्योतन में सहायक होता है। शब्द–विन्यास के समय अथवा उसके पूर्व उसकी मानसिकता अर्थ के आकर्षण द्वारा भी नियंत्रित होती रहती है। शब्द–चयन में आकर्षण मूलक प्रक्रिया लागू होती है। इसे एक–एक उदाहरण द्वारा लक्षित किया जा सकता है–

चलूँगा कभी कल्पना को सजाए,
मिलोगी कहीं प्राण घूँघट उठाए।
विकल भाव मेरा अगिन बन जलेगा,
तुम्हारा नयन जब नयन से मिलेगा। (करील के काँटे : पृष्ठ–51)

अब 'कल्पना' और 'सपन' दो शब्दों को लीजिए। छन्दानुरोध के कारण 'सपन' के

साथ 'जब' जोड़ लें। अब उपर्युक्त अवतरण की प्रथम पंक्ति के एक शब्द के परिवर्तन से पूरे प्रसंग में कैसी भावानुभूति उभरती है—
इसे देखें—

चलूँगा कभी जब सपन को सजाए,
मिलोगी कहीं प्राण घूँघट उठाए।
विकल भाव मेरा अगिन बन जलेगा,
तुम्हारा नयन जब नयन से मिलेगा।

यहाँ 'कल्पना' और 'सपन' शब्दों के कारण अर्थ और शब्द के बीच होने वाले आकर्षण की क्रिया–प्रतिक्रिया की द्वन्द्वात्मक स्थिति का चित्रण स्पष्ट है। छन्दानुरोध के कारण विन्यस्त शब्द 'जब' भी अर्थ–समृद्धि में सहायक हो गया है। अर्थ शब्द की ओर आकृष्ट होता है और उसके रूप को जब तक वह आच्छादित करे तब तक वह अपने भाषिक गुण के कारण ध्वनित होकर विलुप्त हो जाता है। रचना में बद्ध होने के कारण वह स्वयं अर्थ– बद्ध हो जाता है। अर्थानुदेश के प्रकरण में इस पर विस्तार से विचार किया गया है।

शब्द–योजना का आशय शब्द–चयन और शब्द–विन्यास दोनों से है। काव्य में शब्द–चयन की स्थिति शब्द–विन्यास की पूर्ववर्ती है। शब्द– विन्यास काव्य के रूपात्मक ढाँचे के अधिक निकट होने के कारण भावाकर्षण की परिधि के अन्तर्गत समाविष्ट हो जाता है।

भाव–योजना के समय कवि के मन में शब्द और अर्थ को लेकर द्वन्द्वात्मक आकर्षण उत्पन्न हो जाता है। यह आकर्षण विरुद्ध दिशा में न होकर एकोन्मुख होता है। कवि का मनोदेश शब्द और अर्थ दोनों की ओर उन्मुख रहता है। शब्द के प्रति आकर्षण होना सहज है किन्तु भावानुकूल शब्द को ग्रहण करते ही शब्द और अर्थ में सामंजस्य मूलक आकर्षण उत्पन्न हो जाता है और द्वन्द्वात्मक आकर्षण की स्थिति समाप्त हो ज़ाती है। अन्ततः काव्य का स्वरूप स्थिर हो जाता है।

'शब्दाकर्षण शैली' कवि की मनोभूमि से सृजित शब्द और उसके आकर्षण से प्रादुर्भूत शैली की संरचनात्मक पृष्ठभूमि में लोक–चेतना एवं उसकी संवेदना को पहचानने का प्रयास करती है तथा सम्प्रेषणीयता को बीज रूप में स्वीकार करते हुए काव्यास्वाद को महत्त्व प्रदान करती है। भाषा भाव–संवेदना के लिए है न कि

भाव–संवेदना भाषा के लिए। भाषाविज्ञान के पल्लू को पकड़कर शैलीविज्ञान आगे बढ़ता है इसलिए वह भाव–संवेदना को महत्त्व देने में असमर्थ है ।

प्रकरण 6 :

आकर्षण और अनुभूति की सहधर्मिता

अनुभूति और आकर्षण में सहधर्मिता का भाव पाया जाता है। इनके समन्वय से काव्य अपना रूप धारण करता है। अनुभूति में सन्तुलन और आकर्षण में वेग हुआ करता है। असंतुलित अनुभूतियाँ काव्य–रचना के अनगढ़ रूप को विकृत कर देती हैं। विशृंखलित आकर्षण भाव–संवेदन के प्रतिकूल पड़ता है। यदि आकर्षण और अनुभूति का तनाव भिन्न दिशाओं में हो तो काव्य–रचना असम्भव है। अनुभव से ज्ञात है कि अग्नि में दाहकता है। एक छोटा बच्चा जो इस अनुभव से अपरचित है आग को पकड़ने के लिए उत्सुक होगा और यदि किसी ने रोका नहीं तो वह उसे पकड़ भी लेगा। आकर्षण के कारण बच्चे में औत्सुक्य तो है, पर अनुभूति नहीं और आकर्षण का असामंजस्य जब तक बना रहेगा तब तक काव्य–रचना सही रूप में संघटित नहीं होगी। अनुभवमूलक आकर्षण भावनाओं को अधिक दीप्ति प्रदान करता है।

भारतीय काव्यशास्त्रियों ने काव्य को अन्य कलाओं से ऊँचा स्थान दिया है, फिर भी हम यह कहने में संकोच नहीं करेंगे कि काव्य कलात्मक चेष्टा है। कला भावना को आधार मानती है और आकर्षण को व्यापक परिदृश्य। अनुभूतियाँ कला और काव्य का संवर्धन करती हैं। ये काव्य को 'काव्य– कला' के रूप में परिणत कर देती हैं। काव्य के प्रभावात्मक रूप को प्रस्फुटित करते समय ये आकर्षण के तन्तु से जुड़ी होती हैं। आकर्षण और अनुभूति की सहधर्मिता से रचना का पूरा फलक आलोकित हो उठता है।

रचनाकार का व्यक्तित्व बहुरंगी अनुभूतियों एवं आकर्षण के विविध आयामों से युक्त होता है। सांस्कृतिक चेतना, मिथकीय सन्दर्भ, सामाजिक क्रिया–व्यापार भूत और वर्तमान का परिवेश तथा भविष्य का आग्रह रचनाकार के व्यक्तित्व को अपने आकर्षण से आन्दोलित किए रहते हैं। आकर्षण के बिम्ब को अनुभूतियाँ चिन्तन के गहरे रंग से भर देती हैं। रचना की आन्तरिक बनावट, आकर्षण और अनुभूति के

सामंजस्य से स्वाभाविक बनती है। हमारी कल्पना में जब तक अनुभूति का रंग नहीं चढ़ता है उसका आकर्षण खिलता नहीं है। कल्पना मानसिक व्यापार है और अनुभूति उस मानसिक व्यापार की सहचरी एवं आधार–भूमि। कल्पना आकर्षण की ओर पहले भागती है फिर अनुभूति की ओर। किसी अप्राप्य सुन्दरी के प्रति उत्पन्न कल्पना को अनुभूतियाँ स्थिर कर देंगी। अनुभूतियाँ, सोच और चिन्तन से युक्त रहती हैं। आकर्षण और कल्पना सोच के अंग अवश्य हैं किन्तु सुदृढ़ विवेक के नहीं। आकर्षण और कल्पना संवेगमूलक हैं जबकि अनुभूतियाँ अवबोध–मूलक। एक उदाहरण लें —

लो–हित पिता को घर से निकाल दिया,
जन–मन करुणा–सी माँ को हंकाल दिया,
स्वार्थों के टेरियर कुत्तों को पाल लिया,
भावना के कर्त्तव्य—त्याग दिए,
हृदय के मन्तव्य——मार डाले !
बुद्धि का भाल ही फोड़ दिया,
तर्कों के हाथ उखाड़ दिए।
जम गए, जाम हुए, धँस गए !!
अपने ही कीचड़ में फँस गये
विवेक बघार डाला स्वार्थों के तेल में
आदर्श खा गए।

(मुक्तिबोध : चाँद का मुँहटेढ़ा है)

उपर्युक्त अवतरण में स्वार्थान्धता के प्रति होने वाले आकर्षण की व्यंजना अनुभूतियों की सहधर्मिता के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत की गई है। आधुनिक मानव के विसंगतिपूर्ण विचार ने उसके विश्वचेतस् रूप को दबा दिया है। स्वार्थान्धता के भयानक परिवेश ने उसे बुरी तरह से जकड़ लिया है। आत्मा के प्रति उत्पन्न यह आकर्षण 'मानवीयभाव' की आदर्शजन्य अनुभूतियों की संवेदना से परे है।

मनोविज्ञान द्वारा निरुपित कल्पना काव्य की अवधारणाओं के अनुकूल नहीं पड़ती। काव्य में आकर्षण का तत्त्व निहित है, उसके अभाव में काव्य मृतप्राय है। मनोविज्ञान आकर्षण के जिस अनुदर्शन से परिचालित होता है, वह काव्य के विषय के अनुकूल नहीं पड़ता।

कल्पना के लिए अनुभूतियाँ प्रदाय सिद्ध होती हैं। अनुभूतियों को रूपायित

करने के लिए कवि को कल्पना का सहारा लेना पड़ता है। कल्पना सृजनोन्मुखी होती है और अनुभूतियाँ इस सृजन में पुनः रूप धारण करती हैं। स्मृति–कोश में संचित अनुभूतियों को जगाकर काव्य– सर्जना के लिए उद्वेलित करने वाली कल्पनाएँ शब्दाकर्षण की उत्तेजना से स्फुरित होती हैं। सर्जना के क्षणों में अनुभूति और आकर्षण की सहधर्मिता, शब्द, भाव एवं विचार के धरातल पर उतरना चाहती हैं। इस स्थिति में यदि कवि का मस्तिष्क कल्पना के उर्वर वेग से आन्दोलित नहीं हुआ तो अनुभूति और आकर्षण परस्पर सम्बद्ध न होकर बिखरे हुए प्रतीत होंगे तथा शैली का सुहागपन बाँझ प्रतीत होगा ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार–

'ऊसर बरसहिं तृन नहिं जामा ।' (तुलसीदास : रामचरित मानस)

कल्पना के विविध रूप अनुभूतियों की समग्रता से जीवन्त बनते हैं। अनुभूतियाँ काव्य में स्मृति वेग के सहारे अभिव्यंजित होती हैं। कल्पना इस अभिव्यंजना को अपने अनुसार गढ़ती है। उसकी मौलिक सृष्टि करना चाहती है। इसके लिए कवि को प्रसंग–चयन करना पड़ता है, लेकिन वह अपनी प्रतिभा के लिए संबल बनाता है अनुभूति को, और अनुभूति आकर्षण से रहित होकर तज्जन्य भाव–बोध की सृष्टि करने में असमर्थ होती है। अनुभूति के संयोगात्मक प्रभाव से ही कल्पना भाव से समन्वित हो पाती है। 'शैली' में निबद्ध होने पर काव्य कल्पना और अनुभूति के रंग को अपने में घोल लेता है। अनुभूति–रहित कल्पना तर्कोत्तेजित नहीं हो सकती ।

मानव अपने परिवेश के आकर्षण में किसी न किसी ओर अवश्य भागता है। वह जगत् के विभिन्न पदार्थों, क्रियाओं एवं विचारों से टकराता है। इस टकराहट में उसे कुछ न कुछ अनुभव अवश्य होता रहता हैं। इन अनुभवों का विशाल भंडार उसके चेताकोशों ;छमनतवदेद्ध में एकत्र होता रहता है। स्मृतियों के स्फुरण में चेताकोशों को क्रियाशील होना पड़ता है । यह क्रियाशीलता रचनाकार के लिए कल्पना का जाल बुनती है और काव्य सर्जना के क्षणों में कल्पना, अनुभूतियों के आकर्षण में परिबद्ध हो जाती है ।

प्रकरण 7 :

परिवेशगत प्रासंगिकता

परिवेश कृति में समाहित लोक चेतना का व्यक्त स्पंदन है। कृतिकार अपनी रचना में समाविष्ट भावोत्तेजना को विशेष आयाम देने के लिए परिवेशगत प्रभाव से आगे बढ़ सकता है किन्तु उसकी मूलसत्ता को नकार नहीं सकता है। परिवेश सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं प्राकृतिक प्रभाव की समन्वित सत्ता से सम्बद्ध है। आशय यह कि रीति–परम्परा, राग–द्वेष, धर्म–चेतना, मानवीय सम्बन्ध, आचार–विचार, युद्ध– हिंसा, भूख–प्यास, शान्ति–क्रान्ति, उत्थान–पतन, गति–अगति, नाश–निर्माण, अर्थ–नीति, ऋतु–परिवर्तन तथा तत्सम्बन्धी प्रभाव, भौगोलिक परिवर्तन, बाढ़–सूखा, ग्रीष्म–शीत–प्रकोप, वसन्त–शरद की सरसता आदि परिवेश के विविध अंग हैं। आकर्षण के धरातल पर व्यक्त–अव्यक्त भाव, मानवीय चेतना के प्रवाह आदि कितने ऐसे प्रसंग हैं जो अविचल रूप से परिवेशगत प्रभाव से ओत–प्रोत हैं। परिवेश को काव्य चेतना से पृथक् मानकर उसके समीक्षात्मक स्वरूप का उद्घाटन करना समालोचकीय धर्म की अवहेलना है। रचनाकार की कृति का परिवेश, समाज और प्रकृति के परिवेश से अनुप्राणित होता है। उसकी कल्पनात्मक चेतना का प्रवाह भी परिवेश के आनुषंगिक व्याकरण से अनुशासित होता है। कवि की बाह्य मानसिकता (नेत्र, कर्ण, नासिका, जिह्वा, त्वचा आदि) को परिवेश तीव्र वेग से प्रभावित करता है, परिणामतः उसकी अन्तर्मानसिकता (अनुभूति, कल्पना, विचार, चेतना आदि) सर्जनात्मक तीव्रता ग्रहण करने में समर्थ होती है। परिवेश अन्तर्मानसिकता की गत्वरता का कारण हुआ करता है।

परिवेश लोक–जीवन, के संवेदनशील आभास बिम्बों का प्रतिरूप है। मानव–जीवन, उसके मूल्य–बोध तथा संस्कारगत चेष्टाएँ इस आभास के दायरे में समाहित हैं। संस्कारगत मानसिकता–सामाजिक जीवन के यथार्थ बिम्बों, रागाकर्षक सम्बन्धों, विचारों की टकराहट से घटित होने
वाले घात–प्रतिघातों एवं आकस्मिक अन्तर्द्वन्द्वों के दबाव से प्रभावित होती है। हमारी बाह्य मानसिकता परिवेश के प्रभावों को जीवन–पर्यन्त भोगती है। यथार्थ के प्रति उसकी यही पकड़ है। अन्तर्मानसिकता हमारे मूल्य–बोध एवं संवेदन से जुड़ी

रहती है। ऊपर से हम दानवी वृत्तियों के प्रभाव के कारण उस सूत्रबद्धता को भले ही तोड़ते रहें, पर भावनात्मक रूप में पुंजीभूत स्वस्थ चित्त–वृत्तियों के प्रति हमारे अनुदार होने की एक सीमा बनी हुई है। इस सीमा के उल्लंघन की भावना कभी–कभी विषम एवं भयावह रूप धारण कर लेती है। अन्तर्मानसिकता संस्कारों के सौरस्य का परिणाम है जबकि बाह्य मानसिकता परिवेश के प्रत्येक यथार्थ घटना–चक्र के वैरस्य का। बाह्य मानसिकता परिवेश के प्रत्येक काल–खंड से टकराती रहती है जबकि अन्तर्मानसिकता, जीवन के संवेदनात्मक द्वन्द्वों को अनुभव के रूप में सँजोती रहती है और आवश्यकता के अनुकूल वह परिवेश के प्रभाव को स्वीकार–अस्वीकार किया करती है।

मूल्य–परिवर्तन परिवेशगत हुआ करता है। मानव–चिन्तन की धाराएँ भी समाज के परिवेश के साथ बदलती हैं। अर्थ–नीति आज भोग–नीति से जुड़ गई है। यह आर्थिक और यांत्रिक युग का आकर्षण है, इसके प्रभाव को रोका नहीं जा सकता है।

परिवेश के प्रति आज मानव में एक विचित्र आकर्षण उत्पन्न हो गया है। संसार की दूरी सिमट गई है। समाज के लिए गर्हित समझे जाने वाले मूल्यों की जड़ें बलवती होती जा रही हैं। वर्तमान का परिवेश भयावह है। चोरी–डकैती, बलात्कार–अनैतिकता, हत्याकांड, नृशंस घटनाएँ, अनास्था–अनाचार, अत्याचार–बेईमानी सब आज के परिवेश में घुलमिल गए हैं। रचनाकार परिवेश के प्रभाव एवं आकर्षण से किसी युग में पृथक् नहीं रहा है। वाल्मीकि, कालिदास, सूरदास, तुलसीदास, बिहारी, घनानन्द, भारतेन्दु हरिश्चन्द, मैथिलीशरण गुप्त, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', गजानन माधव मुक्तिबोध तथा अन्य कवियों एवं लेखकों की रचानाओं में परिवेश का चित्रण मिलेगा।

रचनाकार अपनी कृति में परिवेश के आकर्षण की झलक को रूपायित करने का प्रयास करता है। वस्तु, घटना, पात्र आदि जो उसकी कृति के आलंबन होते हैं, उन्हें वह परिवेश के द्वार पर ला खड़ा करता है। उल्लिखित घटनाचक्रों एवं पात्रों के जीवन की ध्वनित आकांक्षा, आशा–निराशा ये सब परिवेश की चुनौतियों के सटीक बिम्ब होते हैं। रचनाकार परिवेश के अनिच्छित दबावों से अपने पात्रों को कभी–कभी अलग भी करना चाहता है। परिवेश के अवांछित दबावों की घुटन को रचनाकार कई रूप में प्रस्तुत करता है। वह राजनीति, धर्म–दर्शन, मनोविज्ञान,

साहित्य एवं समाजविज्ञान के नाड़ी–तंत्रों को पकड़कर अपनी मानसिकता को मुखरित करता है। आज का रचनाकार राजनीतिक प्रपंचों की कसमसाहट, सत्ता–लोलुपता, अस्त्र–शस्त्र के भयावह वातावरण, भूख–निराश, पीड़ा–कुंठा और अव्यवस्था की जिन्दगी भोग रहा है। उसकी हर साँस में घुसने वाला सामाजिक एवं राजनीतिक प्रदूषण उसे उबकाई की जिन्दगी जीने के लिए बाध्य कर रहा है। यही कारण है कि आज रचानाकार के दायित्व और अभिव्यक्ति के तेवर बदल गए हैं। आज के हर प्राणी की साँस को यदि वह अपनी साँस नहीं बना लेता है तो वह अपनी रचनाधर्मिता एवं प्रासंगिकता की पहचान खो देगा।

परिवेशगत प्रासंगिकता का व्यापक फलक रचानाकार में सर्जना– त्मक प्रेरणा की प्रतिक्रिया उत्पन्न कर देता है। परिवेश की वर्तमानता रचनाकार के मनोजगत में प्रादुर्भूत भावनाओं की किरण, भविष्य–गर्भी संकेतों से भी भर सकती हैं और विगत, वर्तमान तथा भविष्य के त्रिविध चित्रणों के समन्वयात्मक प्रकाश–बिम्बों से भी। 'प्रसाद' की 'कामायनी', मैथिलीशरण गुप्त का 'साकेत', 'दिनकर' का कुरुक्षेत्र', धर्मवीर भारती का 'अन्धायुग' प्रेमचन्द का 'गोदान' आदि ऐसी ही कृतियाँ हैं।

अभिव्यक्ति का मूल है–भाषा, और भाषा के स्वरूप, गति–भंगिमा को प्रभावित करता है परिवेश। प्रमाण के लिए हम बौद्धों को ले सकते हैं। बौद्धों ने अपनी वाणी प्रसार के लिए पालि–भाषा का प्रयोग किया जो टूटते हुए तत्कालीन समाज के सुधार के लिए निर्बाध रूप से सहायक हुई तथा नये परिवेश का आकर्षण उत्पन्न करने में सक्षम सिद्ध हुई। परिवेश स्थानगत एवं कालगत विशेषताओं को अपने में समेटे रहता है।

परिवेश को स्वीकार करने से रचनाकार की कृतियों में संवेद्य प्रतिबिम्बों का प्रभाव एवं आकर्षण बढ़ जाता है। कल्पना को मूर्त करने का अवसर अधिक व्यापक हो उठता है। परिवेश लेखक को सोचने के लिए बाध्य करता है। वह जब तक परिवेशगत जन–जीवन, प्राणि–जगत् एवं उनकी गतिविधियों को स्वीकार नहीं कर लेता है, उसकी रचनाधर्मिता में मानवीय संवेदनाओं की गुणवत्ता का प्रभाव सक्षम रूप में नहीं उभर पाता है।

भाव, भाषा के माध्यम से व्यक्त होता है और भाषा जन–समाज के विभिन्न क्रियागत परिवेशों से जुड़ी होती है। वह उन्हीं की अभिव्यक्ति हुआ करती है। भाषा

के रूढ़ अर्थ को परिवेश नई गति प्रदान करता है। आज के वैज्ञानिक और यांत्रिक युग में मानवीय सम्बन्धों के विस्तार ने भाषायी संवेदना के संसार को नई दिशा प्रदान की है। रचनाकार की मानसिकता शब्दों में नये अर्थ भरने की चिन्ता स्वयं करने लगा है। यथा—

हरी घास बिछली घास।
दोलती कलँगी छरहरे बाजरे की।
अगर मैं तुमको
लजाती साँझ के नभ की अकेली तारिका
अब नहीं कहता।
या शरद के भोर की नीहार–न्हायी कुई।
टटकी कली चम्पे की
वगैरह, तो
नहीं कारण कि मेरा हृदय उथला या कि सूना है
या कि मेरा प्यार मैला है,
बल्कि केवल यही :
ये उपमान मैले हो गये हैं
देवता इन प्रतीकों के कर गये हैं कूच।
(अज्ञेय : इत्यलम)

काव्य को सम्प्रेषणीय बनाने के लिए परिवेश के अंग–प्रत्यंग को स्वीकार करना अनिवार्य है, क्योंकि संप्रेषणीयता और आकर्षण का अभिन्न सम्बन्ध है। प्रतीक–बिम्बों की योजना, भाषा–गठन, पर्यावरण–प्रभाव, मानवीय चेतना के सन्दर्भ परिवेश से पृथक् नहीं हैं। स्वयं काव्य–परिवेश से भिन्न सत्ता का स्वरूप नहीं है।

मानव परिवेश का एक अंग है। सफल रचनाकार मानव जीवन की सारी विसंगतियों एवं विडम्बनाओं को भोगता है। वह जानता है कि परिवेश कागज का दानव बनाकर उसे जलाना तो जानता है, पर अपने भीतर बैठे हुए महादानव की पूजा करता है। वह यह भी जानता है कि सत्य की दुहाई देने वाला असत्य का पिछलग्गू है। वह यह भी जानता है कि घूस– विरोधी रात के अँधेरे में बेईमानी की पोटली खोलता है। वह यह भी जानता है कि परिवेश का प्रभाव किधर है। किसी व्यक्ति के छोटे–से छोटे दोष पर उसका पुतला बनाना, प्रदर्शन करना और उसे

जलाना सब जानते हैं किन्तु अपने बड़े से बड़े दोष को छिपा कर रखते हैं। अशक्त और दिशाहीन समाज के इस रूप को रचनाकार खूब समझता है, बशर्ते कि वह परियों के लोक में निवास न करता हो। वह यह भी पहचानता है कि समाज के क्रिया–कलापों और आदर्शों की टकराहट से फूटने वाले बुलबुलों के बिम्ब–प्रतिबिम्ब का खंडित दर्प कैसा है? रचनाकार समाज के व्यंग्य–विद्रूप स्थिति के ताने–बाने को अभिव्यक्ति की बुनावट से भर देता है। उसका यही सत्य समाज में प्रतिबिम्बित हुआ करता है।

विगत और वर्तमान में व्यापक अन्तर्विरोध है। सब कुछ विसंगति– पूर्ण नहीं है तथापि परिवेश का दबाव किधर है, इसे सभी समझते हैं। विगत और वर्तमान की टकराहट से भाषा का भी स्वरूप बदलता है। भाषा का पद्यात्मक अस्थि–पंजर बिखर गया है। द्वितीय विश्व युद्धोत्तर परिस्थितियों ने मानवीय मूल्यों पर कड़ा प्रहार करते हुए मानव–जीवन की दिशा ही बदल दी है। विसंगति का काला चक्र गतिमान हो उठा है। इसी का परिणाम है आज की खंडित मानवता। आज के इस परिवेश के साथ समझौता करने के लिए रचनाकार बाध्य है। इसी प्रसंग में मिथकीय सन्दर्भ हमारे जीवन के बदलते मानदंडों को प्रतीकित करने के लिए प्रयुक्त हुए हैं। विगत के बासी सन्दर्भ वर्तमान के ताजे सन्दर्भों की कड़ी बन जाते हैं और जीवन की समानान्तर धारा में आकर परिवेश को मुखर कर जाते हैं। प्रत्येक युग के रचनाकार ने परिवेश की प्रासंगिकता को अपने ढंग से समझा है।

परिवेश के प्रति मानव में सहज आकर्षण पाया जाता है। कठोर, दुर्भेद्य शैल–चट्टानों का विस्तार, सागर और व्योम की अनन्तता, उनका रहस्य–मय फैलाव, प्रकृति की हरीतिमा का मनोहारी दृश्य, जीवन–जगत् को स्पर्श करनेवाली घटनाएँ, मानवीय क्रिया–व्यापार, सबके प्रति हमारे मन का विचित्र आकर्षण बना हुआ है। परिवेश की यह व्यापकता हमारे चिन्तन क्षितिज को स्पर्श करती हुई संवेदनात्मक, गतिशीलता प्रदान करती है। यही संवेदनात्मक गतिशीलता काव्योचित शब्द–विन्यास के लिए रचनाकार को सचेष्ट करती है, परिणामस्वरूप रचनाकार की शब्द–योजना शैली के आकर्षण से मुखरित हो उठती है। निःसन्देह, परिवेश 'शब्दाकर्षण शैली' को जीवन्तता प्रदान करने वाला निर्विवाद तत्त्व है।

प्रकरण 8 :

सन्दर्भ और परम्पराएँ

विगत का संदर्भ वर्तमान बनकर तो जीता ही है, साथ ही वह भविष्य तक अपने पंख पसारा करता है। अतीत की धारणाएँ एवं मान्यताएँ वर्तमान को प्रभावित किए बिना नहीं रहतीं। मन्दिर–मस्जिद, गुरुद्वारे और गिरजाघर हमारी भावनाओं के प्रतीक बनकर हमारे जीवन को युगानुरूप अनुभूतियों से परिचालित करते हैं। तीर्थ–स्थलों की यात्रा और देवी– देवताओं का पूजन, लोक–गाथाओं तथा किंवदन्तियों की अनुश्रुति, रूढ़िग्रस्तता एवं मिथकीय सन्दर्भ हमारी परम्पराओं के वाहक हैं। परम्पराएँ लोक जीवन को प्रभावित एवं आकृष्ट करती चलती हैं। 'कवि–समय' अथवा 'काव्य–रूढ़ि' के प्रकरण परम्परागत साहित्यिक मान्यताओं के प्रतिफलन हैं। कवि–समयों के पीछे सांस्कृतिक चेतना का अबाध प्रवाह है। अँग्रेजी साहित्य में इसे 'काव्य–परम्परा' (Poetic Convention) के रूप में स्वीकार किया गया है।

परम्पराओं का परिचालन जहाँ संस्कृति, आचार–विचार आदि से होता है, वहीं मिथकीय सन्दर्भों से भी उनका सम्बन्ध बना हुआ है। मिथकीय सन्दर्भ हमारी मानसिकता के अंग हुआ करते हैं। इस सन्दर्भ में युग की मान्यताएँ आधुनिक तो हैं, पर भ्रम से रहित नहीं। भारतीय चिन्तन पद्धति यह मानकर चलती रही है कि हमारे मन में सुषुप्त पड़े स्थायी एवं संचारी भाव हमारी मानसिकता के ही अंग हैं। रचनाकार का जीवन और उसके अनुभव दोनों लोक – जीवन से सम्बद्ध हैं। वह इस परिवेश की कोई पृथक् इकाई नहीं है।

परम्पराओं का पालन हमारी विवशता नहीं अनिवार्यता है। विगत के सन्दर्भों से प्रभावित वर्तमान कालिक मान्यताएँ मिथिकीय प्रसंगों तक सीमित नहीं हैं। कुछ काल पूर्व घटित घटना– चक्र भी हमारे जीवन – व्यापार से जुड़े होते हैं। 'अमुक' ऐसा वीर था, 'अमुक' ऐसी सुशील नारी थी। 'अमुक' ने मानवीय के लिए आत्मोत्सर्ग कर दिया। वह इसी गाँव का, इसी जनपद का वीर पुरुष था, वह उच्चादर्शों वाली नारी थी– यह इतिहास बहुत पुराना नहीं है। ऐसी भावनाएँ लोगों में क्यों प्रचलित हो जाती हैं? लोकगाथाओं के प्रति लोगों के मन में लगाव क्यों होता है? इस प्रकार की प्रचलित गाथाएँ हमारे जीवन का अभिन्न अंग बन जाती हैं।

कालान्तर में यही सन्दर्भ हमारी विचार–पद्धतियों में घुल–मिल जाते हैं । एक वंशावली अपनी अगली वंशावली को परम्पराओं का अदृश्य भार सौंपा करती है। सामाजिक जीवन की विविध क्रियाओं में अनुस्यूत ये सन्दर्भ और परम्पराएँ हमारी अस्मिता के अंग बन जाते हैं। मिथकीय सन्दर्भों का आकर्षण एवं प्रभाव तो इतना अदृश्य और प्रवाहपूर्ण होता है कि हम उसके स्वरूप–वैविध्य का विस्तार भी समाकलित नहीं कर सकते। अति मानवीय घटना–चक्र, सत्याभासों की अविरल धारा, धार्मिक मान्यताएँ, संस्कार आदि मिथकीय चेतना के प्रबल वाहक हैं। इसका प्रभाव परिवेश पर पड़ता है और लेखक तथा कवि परिवेश से प्रभावित होते हैं। अतः इनकी मानसिकता सन्दर्भ एवं परम्पराओं को जीवन का प्रवाह मानकर अनिवार्यतः स्वीकार करती है।

साहित्य समाज की अभिव्यक्ति होकर भी वह लोक–सापेक्ष है। साहित्य समाज–मानव समुदाय–की धारणाओं एवं भावनाओं तक सीमित नहीं है। वह मानवेतर जगत को भी अपने में समेटता है । यह और बात है कि मानवेतर जगत् भी समाज–सापेक्ष है अतः समाज को लोक भाव का संस्कृत स्वरूप माना जा सकता है । साहित्य 'विश्वचेतस्' की भावना से अनुप्राणित होने पर ही सन्दर्भ एवं परम्पराओं को नये परिवेश से जोड़ सकता है। समाज यथार्थ की चेतना से आतंकित होता है, परन्तु 'विश्वचेतस्' की भावना से उद्वेलित होने पर एकोन्मुखी बद्धता– 'मानव– कल्याण'–तक सीमित न रहकर वह प्रकृति और मानव दोनों की ओर समदृष्टि डालता है ।

परम्पराएँ गहन आत्मबोध को जगाती हैं। चिन्तन–अनुचिन्तन की प्रक्रिया को जन्म देती हैं। परम्पराएँ लोक जीवन की आधारशिला होती हैं और संदर्भ, परम्पराओं की श्रृंखला के अंग। परम्पराएँ विविध सन्दर्भों का समूह हुआ करती हैं। कभी–कभी एक परम्परा अथवा मान्यता के पीछे कई सन्दर्भ जोड़ दिए जाते हैं । स्थानीय पृष्ठभूमि (Local Colour) सन्दर्भों में घुलमिल जाती है। लोग इनका पालन अपनी जीवन–शैली के अनुरूप करते हैं इसीलिए एक ही परम्परा के अनुपालन की शैली भिन्न–भिन्न जातियों में भिन्न–भिन्न रूप में दिखाई पड़ती है। काव्य का स्वरूप भी इस सन्दर्भ और परम्परा से प्रभावित रहता है— उसका अन्तरंग इनसे अनुप्राणित होता है।

सामाजिक जीवन में रूढ़िग्रस्तता भी पाई जाती है। यह भी हमारे

जीवन–शैली से सम्बद्ध होती है। समुदाय विशेष इनका त्याग अपनी संकुचित मनोवृत्तियों के कारण नहीं कर पाता है। अपनी इन प्रवृत्तियों को वह आने वाली पीढ़ी को सौंप जाता है जिससे समाज की स्वस्थ चेतना विकारग्रस्त होती रहती है। यदि गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाए तो पता चलता है कि परम्पराएँ प्रवाह हैं और रूढ़िग्रस्तता सड़ान्ध।

प्रयोगवाद और नई कविता ने मानवीय चेतना की नूतन पृष्ठभूमि के अन्वेषण का प्रयास किया है । आज की परिस्थिति–जन्य कड़ुवाहट ने उसे तनाव, विसंगति एवं विडम्बना से आच्छादित कर दिया है। परिस्थिति के इस प्रभाव को भोगता हुआ आज का मानव अपने परम्परागत परिवेश से कटकर जीने के लिए बाध्य हो रहा है किन्तु उसकी नसों में सन्दर्भ एवं परम्परा का जो प्रवाह है, उसे छिन्न–भिन्न करने में असमर्थ है। अपनी जीवन की विसंगति में वह 'अन्धायुग' तक पहुँच गया है। भयानक विडम्बना ने उसे 'एक कंठ विषपायी' होने का वरदान दिया है फिर भी वह 'आत्मजयी' बनकर नहीं जी पा रहा है। काम–शृंगार का द्वार–पट खोलते हुए वह 'उर्वशी' तक पहुँचा है। आत्म–पराजय के द्वन्द्व में वह 'परशुराम की प्रतीक्षा' में जी रहा है । आधुनिक लय में खोया हुआ वह 'असाध्य वीणा' को हस्तगत किए हुए है एवं 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' ऐसा सोचते–सोचते वह 'अँधेरे में' अब भी भटक रहा है और 'संशय की एक रात' अब भी जीवित है। आशय यह कि ये चयनित बिम्ब–प्रतीक नये अर्थ में गृहीत हैं परन्तु सन्दर्भ एवं परम्पराएँ इनमें ध्वनित हैं। उपर्युक्त सन्दर्भ–द्वापर, शिव–पार्वती, वीणा, चाँद आदि सभी प्राचीन बिम्ब–प्रतीक हैं।

सन्दर्भ एवं परम्पराओं का पाट बहुत विस्तृत हुआ करता है । मिथकीय एवं रूढ़ परम्पराओं के साथ–साथ लोक–गाथाओं एवं ऐतिहासिक परम्पराओं का प्रभाव भी समाज पर पड़ता है। इनका वैशिष्ट्य मूल्यवान् होता है क्योंकि आनेवाली पीढ़ी तथा भविष्यगर्भी प्रसंग इनसे प्रभावित होते रहते हैं। सम्भावनाएँ मानव–जीवन के अन्तरंग को विशेष रूप से प्रभावित किए रहती हैं फलतः बहिरंग जीवन–धारा में विचित्र सांकेतिक मोड़ दृष्टिगोचर होते हैं।

सामाजिक जीवन के प्रति हमारे मन में आकर्षण हुआ करता है। सन्दर्भ एवं परम्पराएँ सामाजिक जीवन में ओत–प्रोत हैं। मानव मन में परम्पराओं के प्रति

आकर्षण की प्रच्छन्न प्रक्रिया सदैव गतिशील रहती है। अतः इनके स्वर का साहित्य में समावेश सर्वथा सम्भाव्य है। अंग्रेजी साहित्यकार टी.एस. इलियट ने अपने निबंध 'ट्रेडीशन एण्ड इन्डिविजुल टैलेंट' में परम्परा के स्वरूप का गंभीर विवेचन किया है किन्तु उसके इस निबंध में आकर्षण–जन्य भाव–बोध का वांच्छित विवेचन नहीं है।

प्रकरण 9 :

प्रसंगोचित मौलिकता

प्रसंगोचित मौलिकता काव्यात्मक दृष्टि से 'इष्टार्थ–संयोजन' की धुरी है। प्रसंगोचित मौलिकता का आशय प्रसंगोद्‌भावना मात्र से लगाना असंगत है। प्रसंगोद्‌भावना का प्रकरण प्रसंगोचित मौलिकता का अनुगमन करता है। यह परिवेशगत प्रासंगिकता और काव्यगत मनोवैज्ञानिकता के साथ–साथ आकर्षण, भाव और भाषा तीनों के प्रकृत विस्तार को ग्राह्य बना लेती है। भाषा के प्रकरण में भावानुमोदित विपथन की क्रिया, भावोत्कर्ष के प्रकरण में सहजोद्‌गार, सन्देश–समंजन, पुनः वस्तु–विधान के प्रकरण में वस्तु–संगठन और वस्तु–संयोजन की संघात्मक अनुभूति प्रसंगोचित मौलिकता का पट खोलती है।

प्रसंगोद्‌भावना का प्रकरण किसी भी कवि में देखा जा सकता है किन्तु उचित प्रसंग–योजना के अभाव में मौलिकता कैसे आ सकती है ?
प्रसंगोद्‌भावना 'रामचन्द्रिका' में भी मिलती है, फिर भी आचार्य शुक्ल उसे देखकर क्यों बिदकते हैं? स्पष्ट है, समालोचकीय धर्म प्रसंगोचित मौलिकता का पक्षपाती होता है।

प्रसंगोचित मौलिकता का सन्दर्भ गहरे व्यंजनात्मक अर्थों से जुड़ा हुआ है। ध्वनि–वक्रोक्ति की समन्वित योजना इससे पृथक् नहीं है। कथावस्तु के सम्पूर्ण तन्तुओं में प्रसंगोचित मौलिकता अपना रंग–रोगन चढ़ाती है। मुक्तक अथवा प्रबन्ध काव्यों में ध्वनित कवि की मानसिकता की मूल चेतना को व्यंजित करने में यह सहायक होती है। पात्रों के शील–सन्दर्भ, वस्तु–विधान की प्रखरता, संवाद–योजना, मानसिक संवेदना, सांस्कृतिक चेतना, लाक्षणिक एवं व्यंजक भाषा, विपथन–प्रक्रिया, परिवेश और कल्पना के सूत्र प्रसंगोचित मौलिकता से सहज सम्बद्ध हैं।

प्रसंगोचित मौलिकता इष्टार्थ–संयोजन की सशक्त शृंखला है। इष्टार्थ

संयोजन यदि कवि के सम्पूर्ण अर्थाकर्षण का गौरव है तो प्रसंगोचित मौलिकता स्थल–स्थल पर मुखरित होने वाली व्यंजनात्मक धारा। प्रत्यक्ष– अप्रत्यक्ष रूप से प्रसंगोचित मौलिकता इष्टार्थ–संयोजन की सफलता को ध्वनित करने वाली आकर्षणपूर्ण अखंड चेतना है। प्रसंगोचित मौलिकता के तत्त्वों की छानबीन करना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। कुछ प्रमुख तत्त्वों को इस प्रकार नियोजित कर सकते हैं—

(क) विपथन
(ख) सहजोद्गार
(ग) सन्देश – समंजन
(घ) वस्तु – विधान

उपरिलिखित तत्त्वों पर विचार करने के पूर्व प्रसंगोचित मौलिकता के प्रकरण के प्राक्कथन पर अभी कुछ और विचार अपेक्षित है। काव्य– सन्दर्भ के चयन में काव्यगत मनोवैज्ञानिकता और परिवेशगत प्रासंगिकता की समन्वित अनुभूति संचरणशील हुआ करती है। शब्द–विन्यास और शब्द–चयन का आकर्षण प्रसंगोचित ध्वनि के अनुरूप हुआ करता है। प्रसंग का सम्बन्ध परिवेश से पृथक् प्रतीति नहीं कराता है। शब्दाकर्षण का सम्पूर्ण आवेश प्रसंगोचित मौलिकता को शैली बद्ध करता है। वह कालगत सीमाओं को तोड़ता है; भूत से वर्तमान और वर्तमान से भविष्य तक पुनः भविष्य से वर्तमान और भूत से भविष्य तक फैल जाता है। काव्य के प्राचीन एवं नवीन मानदंडों को एक साथ समेट लेता है क्योंकि किसी रचना की पहचान किसी एक मान–दंड पर निर्भर नहीं करती है। समर्थ रचनाकार प्रसंगोचित मौलिकता के उक्त सन्दर्भ को पहचानने का पूर्ण प्रयास करता है।

शब्दाकर्षण शैली का निकष प्राचीन और नवीन दोनों प्रकार की काव्य–रचनाओं पर समान रूप से लागू होता है। आलोचना के आधुनिक स्वरूप को नया रूप देने के लिए 'शब्दाकर्षण शैली' के मानदंडों को स्वीकार करना अप्रासंगिक न होगा। प्राचीन पद्धति अथवा नई आलोचना की विभिन्न पद्धतियों में कोई समन्वित समीकरण न होने के कारण भारतीय आलोचना को पाश्यात्य मानदंडों के अनुरूप विकसित होना पड़ा है। प्रसंगोचित मौलिकता का सन्दर्भ इसीलिए इस क्षेत्र में अपनी जड़ नहीं जमा सका।

प्रसंगोचित मौलिकता के प्रसंग को क्षेमेन्द्र के औचित्य सिद्धान्त के सापेक्ष देखने से मौलिक भ्रान्ति होगी, क्योंकि यहाँ इसे शब्दाकर्षण शैली के परिप्रेक्ष्य में प्रयुक्त किया गया है। पुनः मौलिकता की व्यंजना, प्रसंग, पात्र और परिस्थिति विशेष तक सीमित नहीं है। यहाँ प्रसंग, पात्र परिस्थिति, विचार अथवा भाव के व्यापक सन्दर्भ के काव्यगत वैशिष्ट्य को शब्दाकर्षण के द्वारा व्यंजित करते हुए उसके आगामी परिणाम अथवा प्रतिफलन का संकेत भी ग्राह्य है। यह कहना भी उचित होगा कि प्रसंगोचित मौलिकता में विपथन, सन्देश–समंजन, सहजोद्गार और वस्तु–विधान की समवेत शक्ति को शब्दाकर्षण में नियोजित कर उसके त्रिकालिक—(भूत, भविष्यत्, और वर्तमान) परिणाम एवं अर्थ को लक्षित किया जाता है।

अब प्रसंगोचित मौलिकता के विभिन्न तत्त्वों पर विचार करना आवश्यक है —

(क) विपथन

भाषा एवं भाव के प्रकरण में जब हम विचार करते हैं तो विपथन (Deviation) का महत्त्व अपने आप प्रतिपादित हो जाता है। विपथन की क्रिया शब्द–योजना की मौलिकता के साथ भावानुगत मौलिकता से भी संश्लिष्ट है। विपथन का प्रयोग कवि भाषा में नवीनता लाने के लिए तो करता ही है साथ ही वह भाव की भी योजना करता चलता है। भारतीय काव्य शास्त्र में विस्तार से विवेचित 'शब्द–शक्ति' का प्रकरण बहुत महत्त्व का है। अर्थ की आन्तरिक ऊर्जा को ध्वनित करना काव्यकार का लक्ष्य हुआ करता है। बाह्य रूपरेखाओं में काव्य की आन्तरिक ऊर्जा यदि ध्वनित न हो सके तो उसका प्रभाव क्षणिक, अप्रीतिकर और अस्थायी होगा। विपथन इसी अर्थ जड़ता को तोड़ता है। नये सन्दर्भों में झाँकने के लिए बाध्य करता है।

(ख) सहजोद्गार

सहजोद्गार अनुभूतियों का अनुवर्ती परिणाम है। रचनाकार के मस्तिष्क में समाविष्ट अनुभूतियों का पुंजीभूत कोश, सर्जना के क्षणों में सहजोद्गार बन जाता

है। जो लोग अनुभूति और सहजोद्गार को एक रूप करके देखते हैं वे सर्जना के क्षणों में स्फुरित सहजोद्गार और अनुभूतियों की कालावधि की भेदक रेखा से अपरिचित हैं। कतिपय आलोचकों ने क्रोचे के अन्तर्ज्ञान (Intution) को 'सहजानुभूति' कहा है । इन सहजानुभूतियों की चोचों से क्रोचे महोदय के अनुगामी काफी घायल हुए हैं जिन्हें विश्वास न हो वे उनके अभिव्यक्तिवाद (Expressionism) का आस्वाद ले सकते हैं। अभिव्यंजना वाद वस्तुतः अभिव्यक्ति–वाद है। प्रकृत रूप से हमारे चेताकोशों में एकत्र हुई अनुभूतियाँ ही काव्य का विषय एवं प्रेरणा बनती हैं। हमारा मन उन्हीं अनुभूतियों को व्यापक रूप से ग्रहण करता है जो हमारे मानसिक आकर्षण के अनुकूल होती हैं और यही प्रकृत अनुभूतियाँ कल्पना वेग के कारण काव्यसर्जना के क्षणों में सहजोद्गार का सच्चा विषय बन पाती हैं। सहजोद्गार का प्रसंगोचित मौलिकता से यही सह–सम्बन्ध है।

प्रसंगोचित मौलिकता को प्रकृत वेग प्रदान करने के लिए सहजोद्गार प्रबलतम साधन है। सहजोद्गार के इस प्रकृत सन्दर्भ को प्रसंगोचित मौलिकता से सम्बद्ध करते हुए यह कहा जा सकता है कि सहजोद्गार और विपथन में अन्तः आकर्षण का प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। यह भी कहना तथ्ययुक्त है कि शब्दचयन, शब्द–विन्यास, वस्तु–संगठन और वस्तु– संयोजन की प्रक्रियाएँ सायास हैं जबकि सहजोद्गार आयास रहित।

(ग) सन्देश – समंजन

भारतीय काव्य–परम्परा, वेदशास्त्र, पुराणादि, दर्शन तथा नीति शास्त्र से प्रभावित रही है। अनेक काव्य–रचनाओं में समाहित विचार– धाराओं को इस परिप्रेक्ष्य में परखा जा सकता है । इन ग्रन्थों में जीवन के प्रति एक स्वस्थ दृष्टिकोण–समन्वित विचार समाया हुआ है। भारतीय साहित्य की इस चिरन्तन परम्परा का अबाध प्रवाह काव्यशास्त्र के मूल में भी प्रवेश कर गया है। काव्य की आत्मा के विषय में विस्तृत विवेचन मिलता है जबकि 'आत्मा' दर्शन–शास्त्र का विषय है। ऐसे अनेक प्रकरण हैं जिनमें सन्देश–समजन स्वयं प्रतिध्वनित हुआ है। यथा–चकोर और चन्द्रमा, मेघ और चातक का प्रेम आदर्श और नैतिकता के लिए

चित्रित किया गया है। 'रामायण', 'महाभारत' आदि में जीवन के प्रति विशिष्ट सन्देश स्वयं आलोकित हुआ है।

काव्य दर्शनशास्त्र की कोई ध्वनि नहीं है और नैतिकता का कोई पक्षधर विवेचन भी नहीं है। कवि किसी सन्देश के लिए समर्पित होता हो, ऐसी बात भी नहीं है– विशेषकर आज का कवि। यह तो एक सहज सन्दर्भ रहा है कि भारतीय आदर्श और नैतिकता का रूप उसके साहित्य में स्वयं मुखरित हुआ।

कवि सन्देश देता नहीं है सन्देश सहज रूप में प्रवाहित होता है। जैसे धारा का एक प्रवाह दूसरे प्रवाह से अपने आप जा मिलता है, उसी प्रकार आदर्श और नैतिकताएँ अपने आप काव्य के प्रवाह में सन्देश बनकर समंजित हो जाती हैं–काव्य की यही स्थिति 'सन्देश–समंजन' कहलाती है–

तंत्रीनाद, कवित्त रस, सरस राग, रति रंग।
बूड़े अनबूड़े, तिरे जे बूड़े सब अंग।

(बिहारी : सतसई)

संवाद–योजनाओं के प्रसंगों में 'संदेश–समंजन' की अन्तर्ध्वनि को परखा जा सकता है । प्रेम, नैति[illegible] और आदर्श के आख्यान सन्देश–समंजन को रागाकर्षक चेतना से युक्त करते ह[illegible] सन्देश– समंजन केवल प्रबन्ध काव्य में ही पाया जाता है, ऐसी बात नहीं है। मुक्तक रचनाओं में भी इसका रूप लक्षित होता है। प्रबन्ध काव्यों में तो सन्देश–समंजन का सरल एवं गूढ़ दोनों रूप प्रतिष्ठित हुआ है। 'रामायण', 'महाभारत', 'अध्यात्म रामायण', 'पदमावत्', 'रामचरित मानस', 'रामचन्द्रिका', 'मिरगावती', 'मधु मालती', 'चित्रावली', 'प्रियप्रवास', 'साकेत', 'लोकायतन', 'एकलव्य', 'कुरुक्षेत्र', 'हल्दी–घाटी', 'उर्वशी', 'पथिक', 'पंचवटी', 'यामा', 'रेणुका' आदि कितने ही ऐसे ग्रन्थ हैं जिनमें सन्देश–समंजन प्रतिध्वनित हुआ है। इस प्रकार के अन्य ग्रन्थों का भी नाम गिनाया जा सकता है जिनमें सन्देश–समंजन का अविरल प्रवाह है। संवाद–योजना के प्रसंगों में, रूपक–तत्त्व के निर्वाह में, व्यंग्य, वक्रोक्ति, अन्योक्ति, विनोदादि के चित्रण में सन्देश–समंजन की प्रत्यक्ष धारा प्रवाहित रहती है। अँग्रेजी के बहुत से ग्रन्थों में सन्देश–समंजन का प्रवाह है।

(घ) वस्तु – विधान

वस्तु–विधान रचनाकार की कलात्मक सर्जना का परिणाम होता है। कला

आकर्षण मूलक होती है और वस्तु–विधान किसी कलात्मक काव्य कृति के सम्पूर्ण कलेवर का स्वरूप। किसी रचना का प्रसंग कितना ही संक्षिप्त क्यों न हो, उसमें वस्तु विधान अवश्य पाया जाता है। मुक्तक काव्य में यह सूक्ष्म, संक्षिप्त, सघन, अपेक्षाकृत कम विस्तृत एवं प्रबन्ध काव्यों में प्रायः विस्तृत हुआ करता है। 'रामायण', 'महाभारत', 'कुमारसम्भव', 'रघुवंश', 'शिशुपाल वध', 'किरातार्जुनीय', 'साकेत', 'कामायनी', 'उर्वशी', 'कालजयी' आदि में वस्तु–संगठन और वस्तु–संयोजन का विधान निहित है। मुक्तक काव्यों में कभी–कभी वस्तुविधान अत्यन्त सूक्ष्म हो जाता है किन्तु इसकी विद्यमानता को चुनौती नहीं दी जा सकती है। यहाँ तक की एक शब्द में भी इसकी सत्ता वर्तमान रहती है। पक्षी के उड़ने के लिए प्रयुक्त 'फुर्र' शब्द अत्यन्त सूक्ष्म वस्तून्मुखी प्रसंग को संकेतित करता है। इसी प्रकार दोहे, हाइकू, गीतों आदि में भी इसे परखा जा सकता है।

वस्तु–विधान दो वर्गों में विभाजित हो जाता है– वस्तु–संगठन और वस्तु–संयोजन। वस्तु–संगठन और वस्तु–संयोजन के अर्थों में भिन्नता है। वस्तु–संगठन में रचनाकार वस्तु–विधान को गाँठते हुए आगे बढ़ता है। वस्तु के प्रत्येक रेशे को सही–सही गाँठता है। जिस प्रकार रस्सी बटने वाला प्रत्येक रेशे को सम्यक्रूपेण गाँठकर उसे रूपाकृति प्रदान करते हुए आगे बढ़ता है, उसी प्रकार वस्तु–संगठन में भी रचनाकार वस्तु–विधान के प्रत्येक अंश को अन्तर्ग्रथित करते हुए आगे बढ़ता है। कहीं से पार्थक्य प्रतीत नहीं होता है। पार्थक्य की प्रतीति रचना के स्वरूप, गठन एवं कलात्मकता को खंडित कर देती है– यह रचनाकार की विफलता मानी जाती है। जहाँ–जहाँ वृत्त अपने नये आयामों से जुड़ेगा, वहाँ–वहाँ वस्तु– संयोजन की कला अपेक्षित होगी। खंड काव्य और प्रबंध काव्यों में अगले सर्ग की कथा यदि सूत्रात्मक ढंग से भलीभाँति सम्बद्ध न होगी तो सारा संयोजन, खुरदरा, उपटा हुआ, अनमेल और असंगतिपूर्ण होगा। जिस प्रकार रस्सी बटने वाला पटसन के तन्तुओं को जोड़कर उसमें इतनी सटीक संगति बिठा देता है कि आगे आने वाले अंशों में कहीं भी जोड़ की प्रतीति नहीं होती है, उसी प्रकार रचनाकार को भी वस्तु–संयोजन की कला में सिद्धहस्त होना चाहिए।

रस्सी को गाँठना (बटना) और बात है, उसे प्रशस्त बनाने के लिए जहाँ तक बट चुके हैं, उसके आगे उसे संयोजित कर पुनः आगे बढ़ाना और बात।

संगठन तारतम्यबद्धता है और संयोजन–संगति। वस्तु–संयोजन और वस्तु–संगठन की क्रियाएँ आकर्षणमूलक हैं और कलात्मक चारुता के प्रति समर्पित। काव्य का वस्तु–विधान अनमेल होने पर अभिव्यंजना पक्ष को मन्द कर देता है। रूप की सृष्टि आकर्षण को संवेद्य बनाती है।

विपथन, सहजोद्गार, सन्देश–समंजन एवं वस्तुविधान के तथ्यों को दृष्टिपथ में रखते हुए प्रसंगोचित मौलिकता को एक उदाहरण द्वारा अधोलिखित ढंग से पुनर्विवेचित किया जा सकता है—

राजा दुष्यन्त कण्वाश्रम में पहुँचते हैं। हरिणों को देखते हैं। उन्हें मारने के लिए शर–सन्धान करना ही चाहते हैं कि आश्रमवासी साधु उन्हें रोकता हुआ कहता है– ऐसा मत करो, ऐसा मत करो। इन हरिणों को मारना पुष्प पर आग फेंकने के सदृश होगा। प्रसंगोचित मौलिकता का सन्दर्भ कितना निराला होता है– आश्रम का एक व्यापक परिवेश ! स्वच्छन्द प्रकृति का फैलाव ! राजा भी अपनी स्वच्छन्दता में लीन। नायकोचित क्रियाएँ एवं भावनाएँ ! जहाँ पुष्प कोमलता को व्यंजित करने में समर्थ हैं वहीं अग्नि भस्मीभूत कर देने में । दो विरुद्ध धर्मी सन्दर्भ ! कहाँ फूल और कहाँ अग्नि ! शकुन्तला के प्रति राजा आकृष्ट होता है। सारा घटना–चक्र बदल जाता है। पुष्प–धन्वा (कामदेव) वार करता है। वर्तमान का घटना–चक्र भविष्य तक फैल जाता है। शकुन्तला वर्तमान के आलिंगन में बँध जाती है। पुष्प–सदृश कोमल शकुन्तला दुष्यन्त के प्रेम–पाश में होती है। हरिणी–सी स्वच्छन्द, पुष्प–सी कोमल, भोली–भाली, सुकुमार शकुन्तला। कैसा विंडम्बना–पूर्ण साम्य है। वस्तु संगठन का प्रवाह आगे बढ़ता है— वस्तु संयोजन उसमें संगति बिठाता है। वर्तमान भविष्य के प्रति उन्मुख हो जाता है। आश्रमवासी साधु ने रोका था राजा दुष्यन्त को और नैतिक सन्देश दिया था– ऐसा मत करो। राजा इस अप्रत्यक्ष, अप्रत्याशित सन्देश को न समझ सका और शकुन्तला में उलझ गया।

यह शकुन्तला फूलों के ढेर के सदृश ही तो है। इसीलिए क्षणिक मिलन के पश्चात् वह विरहाग्नि में झुलसती है । यही है फूलों के ढेर पर अग्नि के फेंकने का वास्तविक अर्थ। महाकवि कालिदास ने प्रसंग की पहचान की। एक मौलिक शब्द 'पुष्प' का चयन किया और विरुद्धधर्मी शब्द 'अग्नि' पर भी दृष्टि डाली। दोनों की विसंगति को काल के परिप्रेक्ष्य में रखकर अपनी प्रतिभा का कमाल लक्षित किया।

शब्द प्रसंगोचित मौलिकता से जुड़कर वस्तु–विधान को अवलम्बन प्रदान करता हुआ कितनी दूर तक अपने लक्ष्य पर वार करता है, यह उदाहरण इसका ज्वलन्त प्रमाण है ।

शब्दाकर्षण शैली के निकष पर इस प्रसंग को और अधिक विशद किया जा सकत्ता है, किन्तु प्रसंगोचित मौलिकता की मूल संवेदन को ध्वनित करना ही यहाँ हमारा लक्ष्य रहा है ।

कुछ और उदाहरण लीजिए —

कौन के सुत ? बालि के, वह कौन बालि न जानिये ?
काँख चाँपि तुम्हें जो सागर सात न्हात बखानिये ।
है कहाँ वह ? वीर अंगद देवलोक बताइयो ।
क्यों गयो ? रघुनाथ — बान विमान बैठि सिधाइयो ।

(केशवदास : रामचन्द्रिका)

यहाँ पात्र, प्रसंग और त्रैकालिक स्थिति की व्यंजना शब्दाकर्षण शैली के अनुरूप हुई है। 'बालि' पद से रावण की त्रिकालिक स्थितियों की गूढ़ व्यंजना होती है। भूत में जहाँ बालि द्वारा रावण की दुर्दशा के अतिरिक्त कुछ भी शेष न था वहीं वर्तमान उसे पापग्रस्त किए हुए है, इसलिए वह कहता है, 'वह कौन बालि न जानिये ।' भविष्य भूत से पृथक् प्रतीति नहीं कराता है। बालि का निधन एक भूतकालिक प्रसंग है। बालि की क्रियाओं के अनुकूल रावण की भी क्रियाएँ हैं अतएव उसका वर्तमान भविष्य में बालि के समान होगा। बालि का संहार एक भूतकालिक घटना है, ऐसे ही घटना–चक्र से रावण को भविष्य में गुजरना होगा। व्यंग्य यह भी है कि बालि सात सागरों में स्नान करता हुआ कुछ पुण्यशाली भी था और रावण तो मात्र पापग्रस्त है। अंगद का आशय है– भूत में बालि द्वारा चपेटा खाया हुआ, वर्तमान में पापग्रस्त रावण भविष्य में मारा जाएगा। इसीलिए अंगद–रावण संवाद में अंगद ने रावण को मृततुल्य ही माना है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि प्रसंगोचित मौलिकता विपथन, सहजोद्गार, सन्देश–समंजन और वस्तु–विधान से सुसम्बद्ध होकर शब्दाकर्षण के व्यापक आयामों से जुड़ जाती है। निम्नलिखित उदाहरण भी देखें—

'प्रिय–प्रवास' के आरम्भ में प्रसंगोचित मौलिकता का अच्छा संकेत मिलता है– 'दिवस का अवसान समीप था।' यहाँ 'दिवस' गोप–ग्वालों एवं गोपिकाओं के

लिए आनन्द, सुख और संयोग का वाचक है और 'अवसान'– विरह, पीड़ा, कष्ट का। इन दो शब्दों का प्रभाव पूरे 'प्रिय–प्रवास' में व्याप्त है। इसी प्रकार 'साकेत' में —

अरुण पट पहने हुए आह्लाद में,
कौन यह बाला खड़ी प्रासाद में।

(मैथिलीशरण गुप्त : साकेत)

का प्रकरण भी प्रसंगोचित मौलिकता का अच्छा उदाहरण है। 'बाला' और 'खड़ी' पदों में तो व्यंजना अत्यन्त तीव्र हो गई है। बाला वय एवं स्वभाव के अनुसार चंचल होनी चाहिए, पर यहाँ कवि ने उसे खड़ी दिखाकर उसकी (उर्मिला) भावी स्थिति का चित्रांकन कर दिया है। उर्मिला साकेत (अयोध्या) में खड़ी की खड़ी रह गई और लक्ष्मण चले गए । जड़ और किंकर्त्तव्यविमूढ़ उर्मिला के जीवन का सार यही रहा।

इस प्रकार के प्रसंग कवि की वाणी के प्रभाव से प्रस्फुटित होते हैं। कवि ऐसे तथ्यों को पहले से जानता था, ऐसी बात नहीं। कवि के मनोक्षितिज में ऐसे तथ्य बीज रूप में सुषुप्त पड़े रहते हैं। वस्तु–विधान के प्रसंग में वह बहुत कुछ चिन्तन करता है और चिन्तन के यही बीज रचना–काल में अनजाने प्रस्फुटित हो जाते है। 'खड़ी' शब्द का प्रभाव भविष्य गर्भी भी है यह जानकर मैथिली शरण गुप्त ने इसका प्रयोग नहीं किया था। चिन्तन का आलोक–चक्र भाव–वृत्ति का प्रकाशक होता है।

तृतीय अध्याय

शब्दाकर्षण शैली : संरचनात्मक पीठिका

संरचनात्मक पीठिका शब्दाकर्षण की मुख्य आधार भूमि है । संरचना के अभाव में काव्य सर्जना सम्भव नहीं है । संरचना सर्जना की नींव है। काव्य–रचना का सम्पूर्ण प्रासाद इसी संरचना की पीठिका पर खड़ा होता है । काव्य का जन्म शब्दों के अभाव में नहीं हो सकता। शब्द अपने विविध रूपों में काव्यकोश में समाविष्ट होते हैं। सन्दर्भ, स्थिति, देश – काल एवं भावना के अनुसार शब्दों का अर्थ काव्य में व्यवहृत होता है। समीक्षक शब्द – योजना के अनुसार अर्थानुदेश की पकड़ करता है ।

तृतीय अध्याय के मात्र तीन प्रकरणों पर विचार करते हुए काव्य की संरचनात्मक पीठिका को विवेचित किया गया है । पाठक कदाचित् यह प्रश्न करें कि क्या काव्य – रचना के यही तीन मुख्य बिन्दु हैं? इसका स्पष्ट उत्तर यह हैं भाषायी संचेतना की भूमिका अत्यन्त विशद है। शब्दलय और भावलय तो इस प्रसंग के प्राण हैं । काव्यार्थ चेतना के सम्पूर्ण उपादान, सिद्धान्त एवं उपस्कारक तत्त्व भाषायी संचेतना में अन्तर्भूत हो जाते हैं ।

'शब्दाकर्षण शैली' के परिप्रेक्ष्य में संरचनात्मक पीठिका पर विचार करते हुए शब्दलय और भावलय पर भी विचार किया गया है, क्योंकि सम्पूर्ण रचना का उद्देश्य भावों का संम्प्रेषण है । आलोचना का आशय केवल शब्द अथवा भाषा की चीर – फाड़ नहीं है; भाषा के माध्यम से भावों की छानबीन करना भी है । भावों की छानबीन करना काव्य का उद्देश्य है और शब्द के स्वरूप की पहचान काव्य के उद्देश्य की पूर्ति है ।

प्रकरण 1 :

बिम्बात्मक सम्प्रेषणीयता

बिम्बात्मक सम्प्रेषण की चर्चा क्यों ?

कला से बिम्ब का अभिन्न सम्बन्ध है। अधिकांश अनुभूतियाँ बिम्बमयी होती हैं; पुनः बिम्ब का सम्बन्ध मिथक और प्रतीक से भी जुड़ जाता है। अतएव काव्यशास्त्र के नए मानदंड के लिए भारतीय रस–धारा की आलोचना–पद्धति से प्रभाव ग्रहण करते हुए बिम्बात्मक सम्प्रेषणीयता का उल्लेख करना काल–विरुद्ध न होगा। काव्य के नए अथवा पुराने चाहे जिस रूप को हम लें सम्प्रेषणीयता से उसे पृथक् नहीं कर सकते। यदि बिम्ब और काव्य का सम्बन्ध नित्य है तो काव्य और सम्प्रेषणीयता का सम्बन्ध भी चिरस्थायी है। अतः बिम्बात्मक सम्प्रेषणीयता (Photographic Communication) की चर्चा युग–धर्म के अनुकूल है।

बिम्ब–विधान की चर्चा साहित्य–जगत के लिए कोई नई बात नहीं है। विदेशी साहित्य तथा भारतीय साहित्य में बिम्ब–विधान की व्यापक चर्चा हुई है। हिन्दी–साहित्य में इधर इस पर अनेक ग्रन्थ लिखे गए हैं, पर हमारे लिए एक चिन्त्य बात यह रही है कि हमने अँग्रेजी साहित्य की अच्छी नकल उतारी है। हिन्दी साहित्य की प्रबल मेधाएँ जब तक किसी पाश्चात्य विद्वान के मत का उल्लेख नहीं कर देती हैं तब तक अपने द्वारा किए गए लेखन कार्य को अधूरा समझती हैं। मैं विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि यदि हमने अँग्रेजी काव्यशास्त्र को भारतीय साहित्य में निहित काव्य शास्त्रीय मानदंडों के परिप्रेक्ष्य में परखा होता, अथवा पाश्चात्य काव्यशास्त्र को मात्र एक उपस्कारक तत्त्व के रूप में ग्रहण किया होता तो आज भारतीय आलोचना– साहित्य का रूप कुछ और ही होता।

बिम्ब काव्य की भावात्मक प्रतिमा है। बिम्ब से काव्य सप्राण और गतिशील बनता है। कवि के मानसिक भावावेग की प्रत्यक्ष और संवेद्य प्रतीति बिम्बों से ही होती है। बिम्बात्मक सम्प्रेषणीयता के आधार पर आधुनिक तथा प्राचीन काव्य का अनुशीलन आलोचना–जगत के लिए एक नई दिशा का सन्धान होगा।

बिम्बात्मक सम्प्रेषणीयता को भारतीय परिवेश में रखकर आलोचना का विषय बनाना आधुनिक समीक्षकों के सोच के अनुकूल होगा, क्योंकि काव्य–बिम्ब

की चर्चा आधुनिक समीक्षकों के सोच का परिणाम है। विभिन्न अनुशासनों में बिम्ब–धर्मी भावनाओं का उल्लेख मिलता है, किन्तु यहाँ काव्य–बिम्ब का विचार सम्प्रेषणीयता की पृष्ठभूमि में किया जाएगा।

बिम्ब किसी वस्तु, भावना अथवा स्थिति का मूर्त रूप प्रस्तुत करते हैं। भावनाओं का समुच्छ्वसित ज्वार काव्य–संवेदना को अधिक उत्कर्षपूर्ण बनाया करता है। बिम्ब भी भावनाओं के समुच्छ्वसित ज्वार हैं जो चित्रात्मक होते हैं। ऐसी स्थिति में बिम्बों के द्वारा संप्रेष्य भावना काव्य के आकर्षण में सहज वृद्धि करती है। सभी बिम्ब प्रभावशाली ही होंगे, यह तो नहीं कहा जा सकता, पर अधिकांश बिम्ब अवश्य ऐसे होते हैं जिनका प्रभाव मौलिक होने की दशा में अधिक संवेद्य, आकर्षक और मनोहारी होता है ।

बिम्ब–विधान का विरोध भी नई कविता में लक्षित होता है। इस प्रकार की रचना का आशय लीक से हटना है। लीक से हटना अथवा गतानुगतिकता के बन्धन को तोड़ना युग–सापेक्ष हुआ करता है किन्तु काव्य के कुछ तत्त्व इतने शाश्वत होते हैं कि उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। आकर्षण, शब्द, भाव, भाषा, शैली, बिम्ब, प्रतीक, सम्प्रेषण, मानसिकता, संवेदनशीलता आदि ऐसे ही काव्य तत्त्व हैं जिनको काव्य के सजह रूप से पृथक् नहीं किया जा सकता ।

बिम्ब और सम्प्रेषणीयता का घनिष्ठ सम्बन्ध है । बिम्बों का निर्माण होने के साथ ही सम्प्रेषणीयता की भी सर्जना होती चलती है। बिम्ब और सम्प्रेषण की प्रक्रिया अभेदमूलक होती है। एक ओर से बिम्ब बनते हैं तो दूसरी ओर से सम्प्रेषणीयता प्रस्फुटित होती है। इस प्रकार बिम्ब और सम्प्रेषण का एक 'मिलन–विन्दु' निर्मित हो जाता है–इसे हम 'उद्‌भेदन केन्द्र' (भाव–विचारों के उत्पन्न होने का केन्द्र) कह सकते हैं। सम्पूर्ण मानसिक व्यापार काव्य के चित्रात्मक फलक हैं। चित्र–रचना का इतिहास पुराना है। काव्य के क्षेत्र में बिम्ब–विधान का प्रवेश भी अत्यन्त प्राचीन है। काव्य के अतिरिक्त काव्य–शास्त्र में भी बिम्ब–विधान सम्बन्धी विचार मिलते हैं। कुन्तक के वक्रोक्ति–सिद्धान्त में निहित उपचार वक्रता का प्रसंग बिम्ब–विधान की अवधारणा का समर्थन करता है– 'स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्त वियतः।' (महानाटक 5/7) पाश्चात्य काव्यशास्त्री क्रोचे की सहजानुभूति में भी बिम्ब का समर्थन मिलता है।

बिम्ब–योजना आलम्बन विभाव के रूप में नियोजित होने पर कवि की अनुभूति तथा कल्पना और काव्य के आकर्षण की सहधर्मिता से परिचालित होने के कारण संवेगों (Emotions) को उद्‌बुद्ध करती है। उद्‌दीपन विभाव की स्थिति में ये बिम्ब परिवेशगत प्रासंगिता के मुख्य घटक–काल, घटना, स्थिति, क्रिया आदि को जीवन्त बनाते हैं। आलम्बन और आश्रय की मानसिकता के प्रकाशक होने की अवस्था में बिम्ब– योजना अनुभाव और हावों की जागृत करती है। स्थायी और संचारी भावों को जगाकर बिम्ब सहृदय, दर्शक और पाठक के चित्त में काव्याकर्षण के बीज का वपन करते हैं। इस अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि बिम्बात्मक सम्प्रेषणीयता का यह प्रकरण भारतीय काव्य में समादृत– साधारणीकरण के सिद्धान्त के अनुकूल है। भारतीय काव्यशास्त्र का प्राण रस विषयक चिन्तन बिम्ब–विधान से पूर्णतः तादात्म्य बनाए हुए है, इसमें सन्देह नहीं। ऐसे अनेक प्रसंगों का उल्लेख किया जा सकता है जिनमें विभिन्न रसों की योजना हुई है। नायक–नायिकाओं के रूप–वर्णन के प्रसंगों में, उनकी श्रृंगार चेष्टाओं के प्रकरणों में प्रभाव–परक बिम्बों की योजना हुई है। रूप–वर्णन के प्रसंगों में मोहक, मादक, मारक, त्रासक एवं लोकव्यापी प्रभावों की योजना से बिम्बों का आकर्षण बढ़ जाता है। आकर्षक शैली में प्रस्तुत किए गए वर्णन सहृदय के मनोदेश को प्रभावित किये बिना नहीं छोड़ते। आकर्षण बिम्ब–विधान का अपरिहार्य अंग है। जिस प्रकार काव्य का नित्य धर्म है आकर्षण, उसी प्रकार आकर्षण की स्पष्ट व्यंजना हैं बिम्ब। आधुनिक काव्य चेतना जो कुंठा, पीड़ा नैराश्य और दारिद्र्य से ग्रस्त है– वह भी बिम्ब–विधान के प्रसंग में पाठक के लिए कम आकर्षण की वस्तु नहीं है।

यह स्पष्ट करना कि किस कोटि के बिम्ब अधिक आकर्षक और अधिक प्रभावशाली होते हैं, कठिन है, तथापि विभिन्न युगों की कविताओं से यह स्पष्ट होता है कि चाक्षुष बिम्ब, भास्वर बिम्ब, सकाम बिम्ब, गत्वर बिम्ब, ध्वनि बिम्ब, संश्लिष्ट बिम्ब, मुद्रा बिम्ब आदि का प्रभाव अधिक आकर्षक होता है। चाक्षुष बिम्ब नेत्रों को अपनी ओर आकृष्ट करने में समर्थ होते हैं। भास्वर बिम्ब नेत्रों को आकृष्ट करते हैं और मन को चमत्कृत। सकाम बिम्ब हमारी अन्तश्चेतना को स्पर्श करने की क्षमता रखते है। गत्वर बिम्ब सप्राणता को रेखांकित करते हैं। ध्वनि बिम्बों में श्रुति की अनुगूँज होती है। संश्लिष्ट बिम्ब पूरे प्रसंग में निहित

आकर्षण को उत्तेजित करते हैं। मुद्रा बिम्बों में कलात्मक रूपाकृति के दर्शन होते हैं। बिम्ब की विभिन्न कोटियाँ प्रायः एक दूसरे में समाहित हुआ करती हैं। कुछ ही ऐसे बिम्ब हैं जो एक दूसरे में समाहित नहीं हो सकते। जैसे– संश्लिष्ट–विश्लिष्ट, गत्वर–स्थिर आदि।

बिम्बों के वर्गीकरण में गन्ध और ध्वनि–बिम्बों को भी निरुपित किया गया है किन्तु कुछ समालोचक गन्ध और ध्वनि–बिम्बों को 'बिम्ब' मानने के लिए इसलिए तैयार नहीं हैं, क्योंकि उनसे प्रत्यक्ष चित्रात्मक अनुभूति नहीं होती है, किन्तु सम्प्रेषणीयता के स्तर पर जब हम विचार करते हैं तो इन कोटियों को स्वीकार करना ही पड़ता है। हमारी संस्कारगत भावनाओं को उद्दीप्त कर रहे ये बिम्ब स्वतः सम्प्रेषणीयता के आकर्षण से मन को अभिभूत कर देते हैं।

बिम्बात्मक सम्प्रेषणीयता से सम्बन्धित अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं। संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश काल से लेकर हिन्दी–जगत अत्याधुनिक सन्दर्भों तक बिम्ब से पृथक् नहीं हो पाया है। मानवीय क्रियाओं, प्राकृतिक छवियों एवं जीवन–जगत की अन्य विविध भावनाओं की अभिव्यंजना के लिए कवियों ने बिम्बात्मक सम्प्रेषणीयता को ध्वनित किया है। उदाहरण प्रस्तुत करना उपयुक्त होगा —

सा हेमवर्णा नीलांगं मैथिली राक्षसाधिपा ।
शुशुभे कांचनी कांची नीलं गजमिवाश्रिता।
सा पद्मपीता हेमाभा रावणं जनकात्मजा।
विद्युद्घनमिवाविश्य शुशुभे तप्तभूषणा ।

(वाल्मीकीय रामायण : अरण्यकांड 52 / 23–24)

अर्थात् सीता के अंग स्वर्णाभा युक्त थे और रावण बिलकुल काला था। उस राक्षसराज की गोद में सीता ऐसी प्रतीत होती थीं, मानो काले हाथी को स्वर्ण–मेखला पहना दी गई हो।

स्वर्ण–भूषण धारण किए कमल–पराग की भाँति और सुनहली आभा वाली जनकनन्दिनी रावण की पीठ पर ऐसी दीख पड़ती थीं जैसे मेघ का आश्रय लेकर संचरित होती हुई विद्युत् ।

संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश से अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं किन्तु यहाँ इनका विस्तार अभिप्रेत नहीं है ।

आदि कालीन हिन्दी काव्य से लेकर अत्याधुनिक काव्य के क्रोड में बिम्ब–विधान की अविरल धारा का प्रवाह देखा जा सकता है। सुरूप और कुरूप दोनों प्रकार के बिम्बों का यथास्थान प्रयोग किया गया है। बिम्बात्मक सम्प्रेषणीयता का प्रकरण अनुभूति और कल्पना के पूर्ण संयोग से समृद्ध बनता है। आकर्षक बिम्ब–योजना काव्य के लिए आवश्यक होती है। यथार्थ को सच्चेरूप में प्रस्तुत करने का श्रेय बिम्ब – विधान को ही मिलना चाहिए।

रूप वर्णन (सुरूप और कुरूप दोनों) के प्रसंगों को संवेगों का बल प्रदान करने के लिए बिम्ब–योजना अधिक आवश्यक प्रतीत हुआ करती है। स्वाभाविकता, ऋजुता और सौष्ठव का आश्रय लेती हुई कल्पना यदि बिम्ब– योजना में लीन होती है तो वह काव्य को चमत्कारजन्य उन्मेष से पूरित कर देती है। सम्प्रेषण का स्वरूप निर्विघ्न रूप से ऐसे प्रसंगों में अंकित होता है।

प्रकरण 2 :

बिम्ब और प्रतीक

बिम्ब किसी स्थिति विशेष, मुद्रा, क्रिया–व्यापार, भावना, परिवेश आदि की चित्रात्मक अनुभूति के संवेद्य विन्दु होते हैं। संक्षिप्त अथवा विस्तृत वर्णन के चित्रात्मक स्वरूप को हम बिम्ब की संज्ञा से अभिहित करते हैं। हमारी अनुभूतियाँ बिम्ब के द्वारा रूपायित होती हैं। बिम्बों के प्रभाव और आकर्षण के परिप्रेक्ष्य में गत प्रकरण में विस्तार से विचार किया गया है। प्रतीक हमारी अन्तश्चेतना, संस्कार और अनुभव–जगत् के अनुकूल ही हम पर अपना प्रभाव छोड़ते हैं। प्रतीकों की तीव्रता हमारी भावुक मनःस्थिति और बौद्धिक चेतना को स्पर्श कर लेती है। बिम्ब और प्रतीकों की योजना से भाषायी संचेतना प्रभावशाली और सम्प्रेषणीय बनती है। शैली का प्रवाह और उसकी समृद्धि काव्य में आकर्षण उत्पन्न कर पाठक को अपनी और खींच लेती हैं। बिम्ब में पूरे एक चित्र फलक को उभारना पड़ता है किन्तु प्रतीक में भावना विशेष से सम्बद्ध शब्द विशेष को यथावसर विन्यस्त करना पड़ता है। हमारी चिन्तन प्रणाली और क्रिया–व्यापारों की धारा में चलते–चलते कुछ बिम्ब भी प्रतीक का रूप धारण कर लेते हैं और तब प्रतीक चित्रात्मक धारा से जुड़ सकते हैं। किन्तु वे चित्रात्मक फलक के रूप में

प्रयुक्त नहीं होते हैं। संक्षेप में हम कह सकते हैं— बिम्ब में विस्तार होता है और प्रतीक में घनत्व।

प्रतीक और बिम्ब हमारी संवेदानाओं को उत्कर्ष प्रदान करते हैं। हमारी मानसिकता संवेद्य भावनाओं के स्पर्श से जाग्रत हो जाती है। काव्यानुभूति का वेग हमारी मानसिकता को वैशद्य प्रदान कर उसे अधिक रागाकर्षक बना देता है। प्रतीक मिथकीय संदर्भों से जुड़ते ही हमारे संस्कारों के आग्रह के अनुरूप हमारी चेतना को अपने आकर्षण के जाल में उलझा लेते हैं। यह आकर्षण इतना प्रभावशाली होता है कि हम इससे पृथक् होकर कुछ भी सोच नहीं पाते हैं। मिथकीय सन्दर्भ में सटीक प्रतीक–योजना की यही पहचान है।

हमारी दृष्टि में गंगा पवित्रता का प्रतीक है। इसी प्रकार सीता सतीत्व की और भीष्म प्रतिज्ञा के प्रतीक हैं। चक्रव्यूह उलझन और समस्याओं का तथा युधिष्ठिर एवं हरिश्चन्द्र सत्य के। मन्दिर, मस्जिद और चर्च हमारी आस्थाओं के प्रतीक हैं। हमारे जीवन में इनके प्रति आकर्षण पाया जाता है। बिम्ब में गोचरत्व और प्रतीक में भावानुभूतियों की गुणवत्ता का प्रभावात्मक वेग होता है। गंगा के उच्चारण से हमारा मन कभी मात्र 'पवित्रता' की ओर ही जाता था। आज भी हमारा मन उसके प्रदूषित रूप की ओर कम पवित्रता की ओर अधिक जाता है। शब्द काव्य के केवल संरचनात्मक पक्ष से ही नहीं जुड़ते हैं वे उसकी आन्तरिक शक्ति को भी उद्भासित करते हैं। भाषा की लाक्षणिकता भाव का दर्पण हुआ करती है। मिथकीय प्रतीक युग विशेष की परिधि को वेधते हुए भावी युग की परम्पराओं के अदृश्य रूप की भूमिका भी प्रस्तुत करते हैं।

प्रतीकांकित उन्मेष

बिम्ब की अपेक्षा प्रतीक काव्य में अधिक आकर्षण उत्पन्न करते हैं। काव्य में प्रतीक का प्रयोग अत्यन्त सटीक होना चाहिए। प्रतीक–योजना ऐसी होनी चाहिए जैसे कवि ने कुछ जड़–सा दिया हो। प्रतीक की स्थिति एवं प्रयोग भाव–संवर्धन में सतत संहचारी और उन्मेष मूलक होना चाहिए। प्रतीक के माध्यम से भाव का उन्मेष अपने आप अंकित हुआ–सा प्रतीत हो ऐसा न लगे कि प्रतीक भिड़ाया गया है। बलात् स्थापित किया गया है। प्रतीक–योजना की यह स्वस्थ स्थिति ही

'प्रतीकांकित उन्मेष' है। प्रतीक के अंकित होते ही काव्य में भाव का नवोन्मेष फूट पड़े, तभी प्रतीक की सार्थकता है।

प्रतीक परम्परागत अनुभूतियों वर्तमान तथा भावी सामाजिक चेतना के अनुरूप प्रस्तुत किए जाने चाहिए। परम्परागत भावनाएँ प्रतीकों में व्यंजित होते ही सामाजिक सन्दर्भों से सामंजस्य बिठा लेती हैं। नये अर्थबोध के लिए, वर्तमान चेतना के अनुरूप प्रतीकों का अभिनव प्रयोग भी अपेक्षित है ।

परम्परागत प्रतीकों का प्रयोग रूढ़िग्रस्तता मूलक न होना चाहिए; क्योंकि घिसे–पिटे प्रतीक काव्यार्थ चेतना के लिए विश्वसनीय नहीं होते हैं। प्राचीनता के बिम्ब एवं प्रभाव को तोड़ते हुए नये सन्दर्भों से सामंजस्य बिठाकर जिन परम्परागत प्रतीकों का प्रयोग किया जाता हैं, वे 'प्रतीकांकित उन्मेष' की स्वस्थ झाँकी प्रस्तुत करते हैं। वर्तमान लोकचेतना को दृष्टि पथ में रखकर जिन प्रतीकों का प्रयोग कवि रचनात्मक सृष्टि के लिए करता है, वे उसके भाव लोक के लिए संजीदगी प्रदान कर सकते हैं, किन्तु यह तभी सम्भव है जब उसकी अर्न्तदृष्टि, अनुभूति और कल्पना में संघटन का सामंजस्य स्थापित कर सके।

प्रतीकांकित उन्मेष का वजन काव्योत्कर्ष के लिए है। भावानुभूतियों के विस्तार को सघन बनाकर भाषायी संचेतना के द्वारा मुखरित किए जाने वाले प्रतीक काव्य के लिए दर्पण का काम करते हैं। तद्नुभूति की तीक्ष्ण संवेदना प्रतीकों के माध्यम से तत्काल उभरती है। आम्भीक और जयचन्द का नाम लेते ही देशद्रोहियों का कपटपूर्ण आचरण हमारी दृष्टि में उभरने लगता है। घृणा, क्रोध और उ़त्तेजना की भावनाएँ एक साथ ही फूट पड़ती हैं। वस्तुतः प्रतीक हमारी मानसिकता के सांकेतिक धरातल की उपज होते हैं। परिचय की परिधि में आने वाले पूर्व स्थापित मान्यताओं के बिम्ब–प्रतिबिम्ब हमारी मानसिकता को उत्तेजित कर देते हैं।

प्रतीकित उपमान

प्रतीक और उपमान को एक करके देखने की धारणा भ्रान्तिपूर्ण है। सादृश्य–विधान की शृंखला बिम्ब से प्रत्यक्षतः जुड़ जाती है, किन्तु जहाँ अप्रस्तुत–विधान अमूर्त और सूक्ष्म होता है वहाँ बिम्ब की शक्ति क्षीण हुआ करती है। बिम्बों में गोचरत्व का बल सन्निहित होना चाहिए। सादृश्य– विधान के आधार

पर रूपकातिशयोक्ति आदि की योजना प्रतीक न होकर 'प्रतीकित उपमान' ही हुआ करती हैं। ऐसे अप्रस्तुत प्रतीक नहीं होते हैं। ये उपमान ही होते हैं किन्तु प्रतीक–से लगते हैं। प्रतीक का सन्देह उत्पन्न करते हैं– अतएव इन्हें 'प्रतीकित उपमान' कहना तकनीकी दृष्टि से उत्तम होता है। जहाँ प्रतीक सहज न होकर अलंकार के जाल में उलझ रहा हो वहाँ 'प्रतीकित उपमान' समझना चाहिए। उदाहरण लें —

अदभुत एक अनूपम बाग ।
जुगल कमल पर गजवर क्रीड़त
ता पर सिंह करत अनुराग।

(सूरसागर)

राधा के रूप–वर्णन के प्रसंग में लिखित उक्त दोनों पंक्तियों का अर्थ देखें । राधा का रूप एक अद्भुत और अनुपम बाग के सदृश है । दो कमल हैं जिन पर हाथी क्रीड़ा कर रहा है । उस हाथी पर सिंह अपने अनुराग का प्रदर्शन कर रहा है । यहाँ दोनों चरण कमल के समान हैं उन चरणों से ऊपर का भाग जंघाएँ हैं जो हाथी के सुंड के सदृश हैं और इन जंघाओं के ऊपर सिंह–सदृश पतली कटि है। यहाँ कमल, गजवर तथा सिंह प्रतीक न होकर प्रतीकित उपमान हैं। उपर्युक्तं अवतरण में कमल, गज और सिंह अप्रस्तुत रूप में प्रयुक्त हुए हैं किन्तु इनका रूढ़ अर्थ प्रस्तुत (राधा) के अंगों के सादृश्य–बोध के लिए ही है, यह परंम्परा भुक्त प्रणाली के आधार पर ज्ञात है । एक अन्य उदाहरण लें —

आज न सो ओ; मीत हमारे
गीत हमारे होने दो !

नभ के आँगन में
चाँद की यह अँगड़ाई है,
कोमल पत्तों पर
ऊषा फिर शरमाई है,
पलकों पर उतरे
सपने तो वैरागी हैं,
किरनें इन्द्रधनुष
की लगती अनुरागी हैं,
मन का आकर्षण
हो, प्राण की मधुज्वाला हो,

बिना पिये नशा – सी
लगतीं तुम मधुशाला हो।
पीले सपने, पीली साड़ी
जीत हमारी होने दो।। (काजल और कनेर)

अर्थात् हे मित्र (प्रिय) तुम आज निद्रालु न बनो, आज हमारे गीत झंकृत होने दो। आज नभ के आँगन में चाँद ने अँगड़ाई ली है और कोमल पत्तों को देखकर ऊषा फिर शरमा गई है। तुम्हारे खुले हुए केशों का सम्भार 'नभ के आँगन' के सदृश श्यामवर्ण है जिसमें चाँद (तुम्हारा मुख–मंडल) अँगड़ाई ले रहा है। तुम्हारे अधरोष्ठ कोमल किसलय–से लाल हैं जिन्हें देखकर ऊषा फिर लज्जित हो गई है। तुम्हारी अलसाई पलकों पर उतरते हुए सपने तटस्थ हो रहे हैं किन्तु इन्द्रधनुष की किरनें (माँग जो वक्र होकर मस्तक से सिर के उस पार तक निकल गई है) अनुराग से दीप्त हो रही हैं। यह अनुराग (माँग का अरुण सिन्दूर) स्मर–वेग से मन को आन्दोलित कर रहा है। तुम साक्षात् आकर्षण हो, प्राण के लिए मधुर ज्वाला हो। तुमने मद्यपान तो नहीं किया है फिर भी तुम अपने आप में मधुशाला–सी प्रतीत हो रही हो। तुम्हारे सपने पीले (सौभाग्य) रंग के हैं। वासन्ती रंग की तुम्हारी पीली साड़ी है आज की इस बेला में मेरे प्रणय देवता की जीत स्वीकार कर लो।

उपर्युक्त उद्धरण में सम्पूर्ण अप्रस्तुत 'प्रतीकित उपमान' के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। इन्हें प्रतीक समझना भ्रम मात्र होगा।

प्रकरण 3 :

भाषायी संचेतना

भाषायी संचेतना का आशय है— भाषा का ऐसा प्राणवन्त स्वरूप जिसमें रचनाकार की प्रतिभा का सम्यक् प्रक्षेपण हो और जो पाठक पर पूर्ण प्रभाव डालने में समर्थ हो। ऐसी भाषा सामाजिक चेतना से अनुप्राणित रहती हैं। भाषायी संचेतना के अभाव में कविता का स्वर स्वतः मंद हो जाता है। नवीन शब्द–वाक्यों की संरचनात्मक प्रक्रिया के कारण शैली उत्कर्ष प्राप्त करती है। विभिन्न

रचनाकारों की शैलियों में अन्तर पाया जाता है। भाषा का रूप अस्थिर होता है अतः भाषायी संचेतना का स्वर युगानुरूप बदलता रहता है।

शैलीविज्ञान भाषा विज्ञान से पूर्णतया प्रभावित है अतएव उसके द्वारा किया गया साहित्यिक अनुशीलन शब्दाकर्षण शैली की भाषायी संचेतना के समान भाव एवं शिल्प की दृष्टि से प्रभावशाली नहीं हो सकता। काव्या–भाषा की मूल अवधारणा से पृथक् होकर शैलीविज्ञान भाषायी रूप–संरचना के प्रति उन्मुख हो जाता है अतएव उसमें शुष्कता एवं नीरसता का समावेश हो जाता है।

भाषायी संचेतना के अभाव में शैली की निर्मिति असम्भव है। रचनाकार परिवेश से पृथक् नहीं रह सकता है अतएव वह अपनी शैली में तीव्र स्पन्दन देने के लिए परिवेशगत प्रासंगिकता से भी अपने को जोड़ लेता है क्योंकि शैलीगत प्रभाव, प्रवाह एवं वैविध्य भाषायी संचेतना के अखंड स्रोत हैं। भाषा प्रयोगोन्मुखी हुआ करती है। भाषा का प्रयोग यदि अवरुद्ध हो जाए तो विचार धाराओं का नवीन रूप लुप्त हो जाएगा। भाषायी संचेतना लोकचेतना को नया आलोक प्रदान करती है। भाषा में निहित अर्थ–शक्ति को इसी के द्वारा परखा जा सकता है। भाषा जितनी जीवंत होगी, काव्य का रूप उतना ही आकर्षक होगा।

शब्दाकर्षण शैली के अन्तर्गत शब्द–मात्र का अध्ययन होता है और कविता में निहित भाषायी तत्त्वों की भाषा वैज्ञानिक परख भी प्रधान नहीं होती है तथापि ऐसे भाषा वैज्ञानिक तत्त्व जो काव्योत्कर्ष के कारक होते हैं, उन्हें शब्दाकर्षण शैली के अनुरूप पाए जाने पर ग्रहण कर लिया जाता है। यहाँ शब्द द्वारा ध्वनित अर्थाकर्षण और सम्पूर्ण भाषायी संचेतना को शैली के परिप्रेक्ष्य में ही परखा जाता है फलतः भाषा का प्रभाव, प्रवाह और उसकी प्राणवान् शक्ति का वेग रचना की सम्पूर्ण भाव–धारा के व्यापक सन्दर्भ में व्याख्यायित हो जाता है तथा शुष्क शब्द–जाल के द्वारा किए जाने वाले विश्लेषण से रचना पृथक् होकर भाषायी संचेतना द्वारा निरूपित होती है। यहाँ शब्द–शक्ति और अर्थ–शक्ति का शिल्प– प्रधान समन्वय परिलक्षित होता है। शैली–विज्ञान द्वारा यह सम्भव नहीं है। आशय यह है कि शब्दाकर्षण शैली द्वारा किसी रचना में निहित शब्द–जाल का शुष्क विश्लेषण नहीं किया जाता है। यहाँ रचना भाषायी संचेतना के द्वारा व्याख्यायित एवं विश्लेषित होती है। यहाँ शब्द–अर्थ का भावात्मक संश्लेषण बना रहता है शैली–वैज्ञानिक आलोचना का धरातल इससे भिन्न है।

भाषा, परिवेश के अनुकूल अर्थ–शक्ति को ग्रहण करती है। यदि भाषायी संचेतना और काव्यानुभूतियों का पृथक्–पृथक् अध्ययन किया जाए तो यह परम्परागत आलोचनात्मक प्रणाली का ही एक रूप होगा । भारतीय आलोचना–पद्धति अनुभूति, संवेदना और भाषा के विश्लेषण के पृथकत्व में अधिक विश्वास व्यक्त करती रही है। वह रस के प्रति भी विशेष आग्रही रही है। अनुभूतियों के पक्ष में रस के विश्लेषण एवं व्याख्या पर अधिक बल देती रही है। मनोविज्ञान और सौन्दर्यानुभूति के चित्रण में भी लीन हुई है। पौरस्त्य और पाश्चात्य आलोचनात्मक मानदंडों के समन्वय में भी विश्वास व्यक्त करती रही है। हिन्दी में प्रचलित आज की शैली–वैज्ञानिक आलोचना पाश्चात्य प्रणाली के आधार पर ही विकसित हुई है।

काव्य–भाषा और सम्प्रेषण का गहरा सम्बन्ध है। सम्प्रेषण हीन शब्दावली काव्य–भाषा के लिए निरर्थक है। नये शब्दों का चयन एवं प्रयोग अनुभूति और संवेदना को जगाने के लिए किया जाता है। भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा में भामह, दंडी, वामन, आनन्दवर्धन, कुन्तक तथा क्षेमेन्द्र आदि का नाम समादृत है। इन काव्यशास्त्रियों ने भाषायी संचेतना को परखा है। शब्दाकर्षण शैली के परिप्रेक्ष्य में उनकी अवधारणाएँ अधिक सटीक बैठती हैं। ये काव्य को भाषायी संचेतना से जोड़ते हैं।

भामह, रूद्रट, वामन आदि तथा परवर्ती आचार्य हेमचन्द्र, वाग्भट विद्यानाथ आदि शब्द के महत्त्व को स्वीकार करते हुए भाषायी संचेतना को मान्यता देते हैं। इसीलिए शब्द, रीति, ध्वनि एवं वक्रोक्ति को विशेष महत्त्व प्रदान करते हुए इन काव्य शास्त्रियों ने काव्य की भाषायी संचेतना पर बल दिया है। 'रीति' (शैली) के बिना काव्य–योजना सम्भव नहीं है। ध्वनि– सिद्धान्त काव्य में निहित भाव–तत्त्व की छानबीन करता है और उसके प्रतीयमान अर्थ तक पहुँचने के लिए यदि आवश्यक हुआ तो शब्द को व्युत्पत्ति की कसौटी पर भी कसता है ।

कवि शब्दाकर्षण के प्रति उन्मुख रहता है। भाषा, भाव एवं विचारों की श्रृंखला से कभी पृथक् नहीं हो सकती, इसीलिए भाषा के साथ ही भावादि की व्याख्या भी शब्दाकर्षण शैली का विषय बनती है। भाव और भाषा का यह गठबन्धन शाश्वत है। भावादि भाषा में बँधते हैं और भाषा भावादि के अनुकूल रची जाती है। 'शब्दाकर्षण शैली' में भाव एवं भाषा के आकर्षण मूलक गठबन्धन

को भी स्वीकार किया जाता है। शैली–विज्ञान काव्य के वस्तुनिष्ठ रूप को परखने पर जोर देता है, जबकि शब्दाकर्षण शैली वस्तुनिष्ठता मात्र से न जुड़कर वस्तु और भाव दोनों के समन्वय पर बल देती है। जब काव्य में भाव और भाषा दोनों का समन्वय पाया जाता है तो समीक्षा के क्षेत्र में वस्तुनिष्ठता के आधार पर ही उसका विचार–विश्लेषण क्यों किया जाए?

भाषायी संचेतना का आधार उसकी संरचनात्मक पीठिका है। संरचना की शब्दार्थमयी योजना काव्य को जन्म देती है। शब्द अभीष्ट अर्थ के लिए ही प्रयुक्त किया जाता है। रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति और औचित्य– विधान का प्रतिपाद्य शब्दार्थ–योजना के द्वारा भाषायी संचेतना को मुखर करता है। यही भाषायी संचेतना काव्य को अर्थ–छटा का आकर्षण प्रदान करती है।

काव्येतर भाषा और काव्य–भाषा का अन्तर प्रयोग की स्थिति में स्पष्ट लक्षित होता है। संरचनात्मक स्थिति में काव्य भाषा विशिष्ट हो जाती है, काव्येतर भाषा से एकदम भिन्न। काव्येतर भाषा में भी आकर्षण होता है किन्तु यह आकर्षण काव्य–भाषा की तुलना में शिथिल और मन्द होता है, इसीलिए इसमें भाषायी संचेतना का अभाव पाया जाता है।

भाषा का व्यवहार–समाज अपनी सुविधानुसार करता है। भाषा की रूप–व्यवस्था समाज व्यवस्था के अनुरूप हुआ करती है। देश–काल की सीमाओं को तोड़कर भाषा युग विशेष में अपना रूप बदलती रहती है। यही कारण है कि भाषा का परम्परागत रूप परिवर्तित होता रहता है। असंस्कृत समाज में प्रचलित भाषा का स्वरूप प्रवाहहीन, शिथिल, लचर एवं मन्द हुआ करता किन्तु कभी–कभी विभिन्न जातियों की भाषा में अपूर्व अर्थ–बोध पाया जाता है। प्रबुद्ध समाज की भाषा अधिक परिनिष्ठित होती है। प्रतिभाशाली कवियों की रचनाओं में भाषायी संचेतना सहज जीवन्तता से युक्त होती है। कविता की रूपबद्धता भाव एवं विचारबद्धता के लिए है। अभिव्यक्ति वेग को वह अर्थ–ध्वनि–संवेदन के सहारे प्रस्तुत करती है।

शब्दाकर्षण शैली में भाषायी संरचना पर बल देने का एकांगी आग्रह नहीं है। यहाँ आकर्षण और शैली–दोनों पक्षों–को प्रतिध्वनित करने का भी प्रयास किया गया है। शैलीगत व्यक्त भावना किस ओर मुड़ती है, यह रचना की सम्पूर्ण निर्मिति पर निर्भर करता है। किसी कविता का लक्ष्य– बोध जब तक स्पष्ट न होगा, उसका इष्टार्थ–संयोजन सफल नहीं हो सकता। इष्टार्थ–संयोजन भाव–परक भी होता है

और शब्द–परक भी। शब्दाकर्षण का आशय शब्द–मीमांसा नहीं है। कवि शब्द के आकर्षण में बँधा होता है, क्योंकि शब्द के चुनाव और विन्यास की प्रक्रिया आकर्षण मूलक है। शैली के ही माध्यम से रचनाकार अपने अन्तर्मन की भावना को रूपायित करता है।

काव्य–भाषा कृतिकार की मानसिकता की कसौटी है। कृतिकार की मानसिकता को अभिव्यक्त–भंगिमा का तेवर भाषा ही प्रदान करती है। भाषा को कवि सँवारता है। शब्दों में नूतन प्राण फूँकने का प्रयास करता है। शब्दों की बहुप्रयुक्तता उनके अन्तःस्फोट को धूमिल करती रहती है। फलतः शब्द धीरे–धीरे अपने ताप खो देते हैं, उनकी लाक्षणिकता और व्यंजकता रूढ़ हो जाती है।

भाषा की इन्द्रधनुषी प्रत्यंचा से छूटकर भावना का तीर पाठक, श्रोता अथवा सहृदय के शरीर–देश की लक्ष्य–भूमि (मन–मस्तिष्क–प्राण) को बेधने में समर्थ होता है। सक्षम भाषा में रूढ़िग्रस्तता का अभाव होता है। भाषा को नई शक्ति प्रदान करने के लिए कृतिकार को कथ्य के अनुरूप उसे ढालना पड़ता है। तथ्यों का एकत्रीकरण काव्य का आकर्षण नहीं बन सकता। ऊँचे–ऊँचे आदर्शों की परम्परागत भाषायी रूप–बद्धता के कुहासे से कवि को बाहर आना पड़ता है। उसकी मानसिकता अन्तश्चेतना के स्फोट से बिम्बात्मक सम्प्रेषणीयता को रूपायित करने का प्रयास करती है। काव्य–भाषा का प्रवाह समाज–सापेक्ष और सन्देश–सापेक्ष होने पर अपना एक अलग रूप खड़ा कर लेता है।

काव्य–भाषा के कई रूप होते हैं। यथा–परिमार्जित एवं परिनि– ष्ठित, शिथिल एवं मन्द, लचर एवं परम्परागत, अभिनव एवं प्रखर, स्वस्थ, लाक्षणिक एवं व्यंजनापूर्ण, सांकेतिक एवं ध्वन्यात्मक, चमत्कारपूर्ण एवं विपथनयुक्त बिम्ब एवं प्रतीक युक्त, सरल एवं गूढ़, बिम्ब एवं प्रतीक–रहित। इन विभिन्न रूपों से इतर भी कई अन्य रूप भाषा में परिलक्षित होते हैं। यथा–शृंखलाघात, उपान्तिक बन्धता, प्रतीकांकित उन्मेष आदि। किन्तु यह काव्य भाषा का सीमांकन नहीं है।

भाव–युक्त काव्य भाषा संवेद्य होती है। नितान्त बौद्धिक भाषा गणितीय होती है। काव्य न तो हृदय की ध्वनि है और न उसकी परिणति। कृतिकार की मानसिकता विचारों के संघर्ष से अनुप्राणित होती है और यहाँ मस्तिष्क का प्रभाव ही प्रधान होता है।

कालजयी रचनाओं के पीछे उनकी भाषायी संचेतना का प्रभाव रहता है।

काव्य–भाषा का संवेदनात्मक स्वरूप समाजोन्मुखी विचारोत्तेजना, नैतिकता, आकर्षण, मांगलिक भाव एवं सहज भावना से संसिक्त रहता है।

आज का मानव संत्रस्त हो उठा है। समस्याओं की घुटन से उसका दम उखड़ रहा है। मानवीय मूल्यों का लोप उसे भ्रमपूर्ण स्थिति में जीने के लिए बाध्य कर रहा है। अतः इस समाज के परिवेश का चेतना– सम्पन्न साहित्यकार भाषायी संचेतना को नया दृष्टि–बोध प्रदान करने का प्रयास कर रहा है।

शब्दाकर्षण शैली भाषा की पहचान और प्रयोग को महत्त्व प्रदान करती है। भाषा की गतिशीलता का स्वस्थ्य रूप ही काव्य के लिए वांछनीय होता है। नया परिवेश, नये चिन्तन–क्षितिज के आकर्षण से जुड़ जाता है और नया चिन्तन– क्षितिज नई भाषायी संचेतना से। इससे सम्बद्ध अन्य विचारों का उल्लेख आवश्यक है।

(क) शब्दलय – भावलय

शब्द का आकर्षण तभी बढ़ता है जब उसमें लयात्मकता हो। 'लय' का अर्थ मात्र संगीतात्मकता से नहीं है। शब्द की संगीतात्मकता मात्र से अर्थलय (भावलय) का ध्वनि–बल नहीं बढ़ता है। शब्द की लयात्मकता एक शब्द की दूसरे शब्द के साथ संगतिपूर्ण स्थिति को व्यक्त करती है। प्रत्ययात्मक अर्थ की अपेक्षा सहचारी (प्रतीयमान) अर्थ अधिक प्रभावशाली होता है। वाच्यार्थ की अपेक्षा लक्ष्यार्थ अथवा व्यंग्यार्थ का आकर्षण शब्दलय के प्रभाव से अधिक प्रीतिकर, प्रसाद गुणयुक्त तथा बेधक और मारक हो उठता है।

शब्द का औचित्य (प्रोप्राइटी) भाव का औचित्य बन जाता है और शब्द की समता (सिम्मेट्री) भाव की समता बन जाती है। इसी प्रकार शब्द की संगति भी भाव की संगति (हार्मनी) बनती है। कविता पढ़ते समय भावलय को दीप्त करने के लिए आरोह–अवरोह द्वारा जो संगति उत्पन्न की जाती है, वह शब्दलय पर ही निर्भर करती है। रचना के तुकातुक– विधान में शब्दलय का अक्षुण्ण प्रवाह बना रहता है। भावलय, शब्दलय के अभाव में निष्प्राण है। शब्दलय से अनुप्राणित स्वर–संगति का एक उदाहरण लें —

मधुरया मधुबोधित माधवी मधुसमृद्धिसमेधित मेधया ।
मधुकरांगनया मुहुरुन्मदध्वनिभृता निभृताक्षरमुज्जगे।

(शिशुपाल बध 6 / 20)

यह तो नहीं कहा जा सकता कि यहाँ भावलय समृद्ध नहीं है, पर यह

अवश्य कहा जा सकता है कि यहाँ भावलय की अपेक्षा शब्दलय अधिक आकर्षक और वेगवान् है। यहाँ स्वर–संगति के साथ–साथ स्वर–संगीत का तत्त्व भी उभर आया है।

प्रयोगवादेतर कविता अपने पूर्ववर्ती काव्य–धारा से शब्दलय और भावलय में भिन्न हो गई है। सूक्ष्म भाव–बोध की तीव्रता ज्यों–ज्यों बढ़ती गई है, कविता की भावलय सबल होती गई है। भावलय के सबल होने पर शब्दलय का स्वरूप दब नहीं जाता है, उसका निखार, प्रभाव और ताप बढ़ जाता है। शब्द की कलात्मकता भाव की लयात्मकता में परिणत हो जाती है। नई कविता इसी सूक्ष्म भाव–वेग से प्रभावित है। शब्द की संगति का उसकी ध्वनि और प्रवाह से अक्षुण्ण सम्बन्ध है। भाव की ऊर्जा और शब्द की संगति काव्य – भूमि के आकर्षक बिरवे हैं।

शब्द मधुर और कर्कश दोनों होते हैं। भाव भी कुसुमादपि कोमल तथा वज्रादपि कठोर होते हैं। शब्दलय और भावलय दोनों का रूप भाषायी संचेतना द्वारा समंजित होता है। इनकी परस्पर की संगति में आकर्षण पाया जाता है। शब्दलय और भावलय के बीच निरन्तर संचरित होनेवाला आकर्षण का तन्तु काव्य–रूप को जन्म देता है। उसे संगति प्रदान करता है। छन्दोबद्ध रचना में वह ध्वनि, प्रवाह और वेग को तीव्र करता है। अतुकान्त रचना में भाव–वेग को ध्वनित करता है तथा भाषा को स्वर– संगति प्रदान करता है। प्राचीन एवं नवीन काव्यगत लय के अन्तर को लक्षित करना उपयुक्त होगा––

(क––प्राचीन)––

नन्दक नन्दन कदम्बक तरु तर धिरे–धिरे मुरली बजाव।
समय सँकेत–निकेतन बइसल बेरि–बेरि बोलि पठाव।

(विद्यापति)

(ख––नवीन)––

वह तोड़ती पत्थर
देखा मैंने उसे इलाहाबाद के पथ पर––
वह तोड़ती पत्थर।

नहीं छायादार
पेड़ वह जिसके तले बैठी हुई स्वीकार;
श्याम तन, भर बँधा यौवन,
नत नयन, प्रिय–कर्म–रत मन,

गुरु हथौड़ा हाथ,
करती बार–बार प्रहार;—
सामने तरु–मालिका अट्टालिका, प्राकार।

(निराला)

मेरे उपर्युक्त दोनों उदाहरणों से आधुनिक समीक्षक पुनः नई कविता का प्रसंग तत्काल उठाएँगे और 'निराला' से आगे की बात करेंगे, तो क्या नई कविता शब्दलय और भावलय के बिना सृजित होती है ? यदि हाँ, तो काव्य का आकर्षण कहाँ गया? फिर तो कविता की बात ही करना व्यर्थ है। नई कविता भी शब्दलय और भावलय से ही अनुप्राणित है। यहाँ शब्द निर्झर के समान झरते नहीं, नदी और नद के समान वेग, प्रवाह और अन्तर्ध्वनि उत्पन्न करते हैं। अपनी गति में संगति, समता और औचित्य के आकर्षण को समेटे रहते हैं —

बन्धु !
देखते हो ज्वार वाला सिन्धु
भाद्रपद की साँझ
यह आकाश
हवा विनयी नारियल के गाछ
धुले लटका आसंगी विस्तार
इनके बीच
हम अपनी समस्याएँ लिए
भटके सार्थ के
टूटे हुए सन्दर्भ हैं

(संशय की एक रात : पृ0 9)

शब्दलय और भावलय की मूलचेतना परस्परावलम्बित है।

(ख) तुकातुक – विधान

तुकातुक–विधान की परम्परा प्राचीन काल से काव्य के लिए स्वीकृत रही है। संस्कृत काव्यों से भी उसकी पुष्टि होती है। हिन्दी काव्य–परम्परा तुक को महत्त्व देती रही है। आधुनिक काव्य में इस तुकान्त परम्परा का त्याग लक्षित होता है। इसका प्रभाव छायावाद–युग की कविताओं से प्रारम्भ हो जाता है। जयशंकर प्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', सुमित्रानन्दन पन्त आदि की रचनाओं में

तुकातुक–विधान को स्पष्ट देखा जा सकता है। अतुकान्त कविताओं का अंकुर हिन्दी में प्रयोगवाद के धरातल पर सहज रूप में उगा। छन्द की अनिवार्यता के शिथिल होने से आन्तरिक तुक की अनिवार्यता वस्तुतः शिथिल नहीं होती है। छन्द के रूढ़ अर्थ को छोड़ दिया जाए— ऐसा मानना अनिवार्य भी है— तो अतुकान्त रचनाएँ भी छन्दोबद्ध ही मानी जाएँगी। इस प्रकार की छन्दोबद्ध रचनाओं में आन्तरिक तुक ध्वनित रहती है। यह आन्तरिक तुक परम्परागत तुक से सूक्ष्मतः भिन्न है। आन्तरिक तुक का आशय— काव्य–भाषा में निहित उन गुणों से है, जो उसके अन्तर्गठन और अन्तः स्वरूप को दृढ़ करते हैं तथा अर्थ–छवि को प्रस्फुटित करते हैं। आन्तरिक तुक के सहज होने से काव्य–भाषा में स्वतः एक अलक्षित प्रवाह आ जाता है।

आधुनिक कविता आन्तरिक तुक के प्रति सचेष्ट रही है। लघु एवं दीर्घ कविताओं में अर्थ–छवि को उभारने तथा उसके अन्तर्गठन को बहुआयामी बनानें का श्रेय इसी आन्तरिक तुक को है। कृत्रिम और बहिर्गठित काव्य–भाषा में यह गुण नहीं पाया जाता है। शिथिल एवं लचर भाषा इस 'आन्तरिक तुक' को छू नहीं पाती है। काव्य का आन्तरिक आकर्षण उसके 'आन्तरिक तुक' पर निर्भर करता है। इसका आशय यह नहीं है कि प्राचीन कविता इससे परे रही है। 'आन्तरिक तुक' कविता के तुकातुक–विधान का सहज धर्म है।

तुकातुक–विधान का इष्टार्थ–संयोजन से अविच्छिन्न समबन्ध है। गति–यति, आरोह–अवरोह, शृंखलाघात–उपान्तिक बन्धता आदि संवेग और संवेदनाओं के अविच्छेद अंग हैं। कविता का स्वरूप–विधान चाहे जितना परिवर्तित हो जाए, उसके आन्तरिक तुक की प्रक्रिया समाप्त नहीं हो सकती है। जब तक काव्य का सम्बन्ध संवेगों और संवेदनाओं से बना रहेगा, तब तक आन्तरिक तुक का अस्तित्व अमिट रहेगा। आरोह–अवरोह का प्रवाह बना रहेगा। ध्वनि–लय, गति–यति का प्रवाह जीवित रहेगा।

(ग) शृंखलाघात

प्रत्येक क्रिया की एक प्रतिक्रिया होती है। शृंखलाघात में इसी क्रिया–प्रतिक्रिया का भाव समाहित है। उच्चरित वर्ण त्वरित वेग से आगे बढ़ते हैं। जैसे लौह–शृंखला पर यदि चोट किसी एक किनारे से की जाए तो आगे आने वाली लड़ी

अथवा लड़ियाँ स्वतः हिल जाती हैं, उसी प्रकार शब्दोच्चारण में कभी–कभी भावलय को ध्वनित करने वाले स्वर–व्यंजन झंकृत हो जाते हैं। कभी वे आगे भागते प्रतीत होते हैं, कभी फिसलते से और कभी आगे–पीछे, टक्कर लेते–से। स्वनिम मूलक इस क्रिया–प्रतिक्रिया के कारण उच्चारण में, ध्वनि; अर्थ–व्यंजना में क्षिप्रता और गम्भीरता उत्पन्न कर देती है। शृंखलाघात में वर्णों पर चोट–सी पड़ती है और वे उच्चारण–त्वरा के कारण अधिक अर्थ–बोधक हो उठते हैं। शृंखलाघात को तीन कोटियों में विभाजित किया जा सकता है—

1. व्यंजनाघात
2. स्वराघात
3. उभयाघात

व्यंजनाघात में व्यंजन, स्वराघात में स्वर तथा उभयाघात में स्वर और व्यंजन दोनों मिलकर ध्वन्यात्मकता उत्पन्न कर अर्थ–चेतना को दीप्त करते हैं। विभिन्न रचनाओं के पढ़ने से ज्ञात होता है कि कवियों की भावमूलक दृष्टि उभयाघात की ओर ही अधिक रही है। व्यंजनाघात और उभयाघात के रूपों में अन्तर लक्षित किया जा सकता है; किन्तु स्वराघात का रूप अत्यन्त विरल और अप्रभावी है। यों व्यंजनाघात के भी उदाहरण अल्प हैं। उभयाघात का एक उदाहरण लें —

जइ सरवरंभि विमले सूरे उइएसु विअसि आ नलिणी।
ता किं वाडिविलग्गो मा विअसउ तुंबिणी कहवि।।

सन्देश–रासक : 1/14

(यदि सूर्योदय होने पर नलिनी विमल सरोवर में विकसित होती है तो क्या बाड़ी में लगी हुई तूँबी या लौकी न फूले ?)

उपर्युक्त छन्द में 'उइएसु' शब्द का प्रयोग प्रथम पंक्ति में हुआ है। 'उइएसु' शब्द में उच्चारण–त्वरा का पूर्ण प्रभाव है । अर्थ–व्यंजना इस उच्चारण–त्वरा के कारण बढ़ गई है। सूर्य की किरणें क्षिप्रतम गति से फूट पड़ती हैं, उक्त शब्द की उच्चारण–त्वरा इसी अर्थ में व्यंजित हुई है। कवि ने इस शब्द में वैज्ञानिक आकर्षण उत्पन्न कर दिया है। विज्ञान (Science) यहाँ काव्य के लिए उपस्कार तत्त्व बन गया है। अपभ्रंश काव्य 'सन्देश–रासक' के रचयिता अब्दुल रहमान की कल्पना को यहाँ दाद देनी ही पड़ेगी। प्रकाश–तरंगों का अध्ययन

आधुनिक विज्ञान की देन है।

भाषायी संचेतना काव्योत्कर्ष का कारण बनती है। 'उइएसु' में 'उइ' का उच्चारण तो अत्यन्त वेगवान है। सूर्य की प्रथम किरणें तो अति वेग से फूट पड़ती हैं पुनः कुछ मन्द गति से अपनी ऊष्मा का प्रसार करती हैं। 'उइएसु' में इसी भाव की समृद्धि हुई है। 'विमले सूरे' और 'बिअसिआ नलिणी' में नायक–नायिका–जन्य प्रकृत आकर्षण की व्यंजना हुई है। 'वाडिविलग्गा' में जो त्वरा है वही 'विअसउ' में नहीं है। काकु–वक्रोक्ति की भाषा अपने प्रथमावेग में बलाघात से युक्त होती है।

शृंखलाघात मूलक काव्य–भाषा आकर्षक होती है। कवि की मानसिकता भाव – व्यंजना को तीव्र करना चाहती है। राम की मनोदशा का चित्रण परिवेशगत प्रासंगिकता के अनुकूल व्यंजित हुआ है—

घन घमंड गरजत नभ घोरा ।
प्रियाहीन डरपत मन मोरा ।

(रामचरिमानस)

आकाश–मंडल में प्रचंड ध्वनि उत्पन्न करने वाले मेघों के बिम्ब और प्रभाव को कवि एक साथ अंकित करता है। उच्चारण की त्वरा में घन का रूप 'घन्' जैसा हो जाता है। घमंड का अनुस्वार झटके के साथ 'ड' में समाविष्ट होते हुए अपनी प्रतिध्वनि प्रस्फुटित कर देता है। इस प्रकार घमंड का अनुस्वार म और ड के बीच क्रिया–प्रतिक्रिया उत्पन्न कर देता है। 'गरजत' और घोरा में ध्वनि वेग स्पष्ट है। 'प्रियाहीन' की अर्थ– व्यंजना और तीव्र है। 'प्रिया' शब्द उच्चारण–त्वरा के कारण 'हीन' में डूब–सा गया है। सीता के अभाव को अर्थानुदेश की पूर्ण व्यंजना सहज प्राप्त है। 'डरपत' का 'र' पूरे वेग से 'प' में सिमट गया है जैसे भयभीत मनुष्य डर के कारण थरथराता हुआ किसी से लिपट गया हो।

स्वर–व्यंजन के द्वारा ध्वनि उत्पन्न कर शृंखलाघात को व्यंजित करने वाले उभयाघात के अनेक उदाहरण कवियों में मिल जाएँगे।

शृंखलाघात के इस विवेचन के प्रकरण में छायावादी काव्य–धारा के महान् कवि 'निराला' की रचनाओं का अनुशीलन श्रेयस्कर होगा —

(क) तुम तुंग–हिमालय–शृंग और मैं चंचल–गति–सुर–सरिता।
तुम विमल हृदय उच्छ्वास मैं कान्त–कामिनी–कविता।

(ख) तुम चित्रकार–घन–पटल–श्याम

मैं तड़ित्तूलिका (तुम और मैं)

(ग) सामने तरु–मालिका अट्टालिका, प्राकार।

(तोड़ती पत्थर)

(घ) उत्ताल–तरंगाघात–प्रलय–घन–गर्जन–जलधि प्रबल में।

(सन्ध्या सुन्दरी)

इसी प्रकार के अन्य उदाहरणों को प्रस्तुत किया जा सकता है, जो शृंखलाघात की श्रेष्ठता को व्यंजित करने में समर्थ है। 'वेग प्रखर', 'गर्जित स्वर', विच्छुरित वह्नि, मर्दित–कपि – दलबल विस्तर आदि कुछ ऐसे ही प्रयोग हैं जो निराला के काव्य में शृंखलाघातमूलक ध्वन्यार्थ व्यंजना को पुष्ट करते हैं। 'राम की शक्ति पूजा' में शृंखलाघात की अपूर्व योजना हुई है।

वीर रस की रचनाओं में शृंखलाघात के लिए पर्याप्त अवसर होता है। एक उदाहरण लें ——

मचल पड़ा चरण दबंग का,
चलायमान खड्ड बंग का,
प्रवाह चल पड़ा तरंग का,
बज गयी बिगुल लो जंग का।

(ढाका–विजय)

'मचल' शब्द का अन्तिम वर्ण 'ल' अपने अगले शब्द 'पड़ा' के 'प' से टकराता है। दबंग का 'बं' ध्वनि वेग को अनुस्वार के बल को ऊर्ध्व कर रहा है। यह युद्ध की उत्तेजना को व्यक्त करने में समर्थ है। 'खड्ड बंग' के 'ड' द्वय परस्पर टकराकर 'चलायमान' खड्ड के बिम्ब को उभार रहे हैं। 'बंग' इस ध्वनन को और अधिक उत्कर्ष प्रदान कर रहा है। 'प्रवाह' शब्द को 'चल' शब्द अपनी ओर खींच रहा है। 'तरंग' का 'तरं' 'ग' से मिलकर गूँज पैदा कर रहा है। 'तरंग' ध्वनि–वेग के साथ आगे बढ़ती हैं। ऊपर–नीचे भी उठती गिरती हैं किन्तु उनमें आगे बढ़ने का वेग होता है। 'तरंग' और जंग से इसी भाव की व्यंजना शृंखलाघात मूलक तुक के द्वारा सम्पन्न हुई हैं। 'बिगुल लो' तथा 'जंग' शब्दों में भी शृंखलाघात का प्रबल प्रवाह है।

शृंखलाघात की योजना कवि के मानसिक वेग से सम्बद्ध है। हम जानते हैं कि आघात से वस्तु विशेष में ध्वनि फूट पड़ती है। कवियों ने ध्वन्यात्मक अलंकार

(Onomatopoeia) के द्वारा भी इसे व्यंजित किया है। शृंखलाघात में ध्वन्यात्मक अलंकार की योजना की हूबहू चर्चा बेमानी है। ध्वन्यात्मक प्रभाव तो 'धड़ध्धरं और तड़त्तरं' को लिखकर भी कवियों ने दिखाया है तो क्या वे प्रसंग शृखंलाघात के अनुकूल है। यहाँ तो ध्वनि का संबंध आकर्षणमूलक प्रसंगों से जुडा हुआ है। तुलसी ने इसी आकर्षण की पहचान शृंखलाघात के परिप्रेक्ष्य में की है—

कंकन किंकिन नूपुर धुनि सुनि।
कहत लखन सन रामु ह्रदय गुनि।

(तुलसी : रामचरित मानस)

शृंखलाघात के कारण ध्वनि–बिम्ब की योजना सार्थक बनती है। कोयल की कूक, मोर की पिहक, नदी की हरहर, पत्तों का मर्मर, निर्झर का झरझर नगर का सायरन, सरसर भागती गाड़ियों के भोंपू सब मन आकृष्ट करते हैं। कवि अपनी काव्य–रचना में इन सब का वर्णन तो करता ही है, साथ ही वह ऐसे तत्त्वों को ध्वनि–बिम्ब से उभार देता है जिसकी कल्पना इस दृष्टि से हम नहीं किए रहते हैं। शृंखलाघात से भाषा में प्रवाह, ध्वन्यात्मकता, कर्णप्रियता और अर्थ में दीप्ति उत्पन्न होती है। शृंखलाघात रचनाकार की आन्तरिक भावना को लयात्मक वेग प्रदान करता है। शैली में चमत्कार, भावावेग, विशदता, कसाव, स्निग्धता तथा खिंचाव का गुण समाविष्ट हो जाता है। आकर्षण और शैली के ध्वन्यात्मक बिन्दु एक दूसरे से मिलते हुए अर्थ–चेतना का स्फोट करते हैं।

शृंखलाघात के स्फुट प्रयोग कवियों में मिल जाएँगे—

सघन कुंज, घन–घन तिमिरु, अधिक अँधेरी राति।
तऊ न दुरिहै, स्याम वह दीपसिखा–सी जाति।

(बिहारी)

तमस बिम्ब को चाक्षुष–बोध प्रदान करने के लिए कवि ने, सघन कुंज घन–घन तिमिरु' पद का प्रयोग किया है। 'घन–घन' में इतनी ध्वनि–प्रगाढ़ता है कि एक दूसरे को पृथक् कर पाना कठिन है। घनान्धकार आँखों के लिए असूझ की स्थिति उत्पन्न कर देता है। इस प्रकार के बिम्बों से सम्बन्धित शृंखलाघात के उदाहरण अन्य रीतिकालीन कवियों की रचनाओं से भी उद्धृत किए जा सकते हैं।

प्रयोगवाद और नई कविता में भी ऐसे प्रयोग मिलते हैं जो हमें शृंखलाघात

की ध्वन्यात्मकता तथा अर्थ–चेतना की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं। देखिए—

(अ) अनाज से भरी मालगाड़ी
सॉंप – सी सिंगनल पर खड़ी है।
(खूटियों पर टँगे लोग–पृ039)

(ब) आले पर चुहचुहाती ढेबरी थी।
(खूँटियों पर टँगे लोग:सर्वेश्वर दयाल सक्सेना पृ059)

प्रथम उदाहरण में 'सॉंप–सी सिगनल' का प्रयोग सार्थक है। शृंखलाघात की स्वनिम मूलक योजना, स्थिति, परिवेश, प्रसंग, भावानुभूति और वर्णन–वैविध्य को स्पष्ट करने वाली होती है। इस परिप्रेक्ष्य में उक्त पंक्तियों का अर्थ विस्तार से लिखा जा सकता है, जो यहाँ सम्भव नहीं है। संक्षेप में ही विचार प्रस्तुत हैं– माल गाड़ी अनाज से भरी है, स्थिर गति–व्यंजक शब्द 'खड़ी' के द्वारा इसका बोध कराया गया है। उच्चारण–त्वरा की दृष्टि से 'सॉंप–सी' में मन्दता है और सिगनल' में तीव्रता। सॉंप का स्थिर हो जाना गति की मन्दता को व्यक्त करता है और चल पड़ता है तो तीव्र गति से 'सिगनल' में भागते हुए अथवा दौड़ते सॉंप तथा गाड़ी की व्यंजना है। दूसरे उदाहरण में चुहचुहाती ढेबरी का वर्णन है। ढेबरी का तेल जब चुहचुहाती स्थिति में होगा तो एक–एक बूँद होकर स्रवित होगा। कवि–भावना की अभिव्यक्ति 'चुहचुहाती' में स्पष्ट है। उच्चारण–त्वरा की प्रथम स्थिति में 'चुह' में मन्दता है पुनः 'चुहाती' में गति कुछ तीव्र है। मन्द और तीव्र गति की व्यंजना तेल के स्रवित होने की स्थिति के संकेतक हैं। यदि किसी शृंखला पर मन्द चोट की जाए तो गति मन्द होगी और यदि चोट तेज की जाए तो गति तीव्र होगी। उच्चारण–त्वरा शब्द में अपनी स्थिति कुछ ऐसी ही व्यक्त करते हैं। पाठक उच्चारण चाहे जितनी शीघ्रता से करना चाहे, शब्द की अपनी गति यथावत रहेगी।

नई कविता का शृंखलाघात स्थिति–व्यंजक कम भाव–व्यंजक अधिक है। वीर रस की रचनाओं तथा सामान्यतः अन्य रसों की ओजमूलक शब्द योजनाओं की भाषा प्रयोगवाद की पूर्ववर्ती रचनाओं में कुछ और ही थी और आज की भाषा में कुछ और ही है। यहाँ शृंखलाघात की स्वनिममूलक व्यंजना काफी बदल गई है। शब्दों में निहित संकेत–ग्राह्य प्रयोगों की ओर भागती कविता का रूप अब प्रतिष्ठित हो चुका है। भाषा का नाद रूप तो कभी भी समाप्त नहीं हो सकता, पर उसकी

व्यंजकता बदलती रहेगी।

प्रसंग समाप्त करने के पूर्व एक–दो उदाहरण और प्रस्तुत करना उपयुक्त होगा। हनुमान जी आकाश–मंडल में पर्वत लिए वेग से भाग रहे हैं। उनके आकाश में दौड़ने से एक लीक–सी बनती जा रही है। तुलसीदास हनुमान के भागने की क्रिया की व्यंजना करते हुए 'कपि यों धुकि धायो' वाक्यांश का प्रयोग करते हैं। इसके द्वारा हनुमान जी के पर्वत लेकर वेग से भागने की क्रिया को बिम्ब–सृष्टि के माध्यम से संवेद्य बनाया गया है। 'धुकि धायों' में 'धु' के उच्चारण के साथ ही 'कि' धक्का खाता है और अगले पद 'धायो' के 'धा' में पूरी तरह समाविष्ट हो जाता है। इस प्रकार हनुमान के धावन–क्रिया के वेग का एक बिम्ब शृंखलाघात के द्वारा पूर्णतया रूपायित हो जाता है।

अज्ञेय नारी–सौन्दर्य के प्रसंग में देह की मसृणता के लिए उसे 'बिछली घास' से उपमित करते हैं। स्पर्श–बिम्ब का एक स्वस्थ चित्रण प्रस्तुत करते हैं। स्निग्ध वस्तु पर हाथ रखते ही वह फिसल जाता है। 'बिछली घास' में भी यही स्निग्धता है। 'बिछली' शब्द का 'छ' उच्चारण–त्वरा का स्पर्श पाकर झटके के साथ 'ली' में समाहित हो जाता है। जैसे वह स्वयं फिसल रहा हो। शब्दाकर्षण की भावात्मक सृष्टि कितनी व्यंजक है। शृंखलाघात का यह भावपूर्ण अंकन काव्यात्मक सौन्दर्य और बिम्बात्मक सम्प्रेषणीयता दोनों को सप्राण बनाने में सक्षम है। स्फुट शृंखलाघात का यह लघु फलक सौन्दर्य के प्रसंग में पूरे अर्थ को ध्वनित कर जाता है।

(घ) उपान्तिक बन्धता

भाषायी संचेतना का बल काव्य को केवल उत्कर्ष ही प्रदान नहीं करता है, उसे मर्यादित और अनुशासित भी करता है। प्रयोगवाद से पूर्व ही आलंकारिक भाषा – प्रयोग का मोह भंग हो चला था । प्रयोगवाद ने तो भाषा की नई चुनौती को स्वीकार किया । नये प्रयोग और पद्धति की दिशा ने काव्य– भाषा के गठन, लोच, प्रवाह और प्रभाव के नए क्षितिज का उदघाटन किया। शृंखलाघात के अध्ययन से हमें यह ज्ञात हो गया है कि आधुनिक कवियों ने भाषायी संचेतना के तेवर को बदला है । यह बात उपान्तिक बन्धता के विषय में भी सच है। शृंखलाघात की

अपेक्षा उपांतिक का प्रयोग अधिक हुआ है । प्राचीन और नवीन दोनों प्रकार के कवियों ने इसका महत्त्व प्रदान किया है ।

'उपान्तिक' का अर्थ है—समीपवर्ती, समीप, अन्तिम से पहले का एक। अर्थात् जब दो समीपी वर्णों अथवा शब्दों में किसी प्रकार की भाषायी मैत्री हो तो उसकी संज्ञा उपान्तिक बन्धता होती है। इस उपान्तिक बन्धता का प्रसंग वर्ण, शब्द अथवा पद–मैत्री, आनुप्रासिक योजना और शृंखलाघात से निसर्गतः सम्बद्ध है। भाषा जब अपनी स्वनिम–शक्ति, पद–मैत्री, गठन, सानुनासिकता कठोर और कोमल वर्ण एवं शब्द–योजना से किसी का मन सहजभाव से आकृष्ट कर ले तो यह उसका गुण ही कहलाएगा । उपान्तिक बन्धता में शर्त यही है कि उसके सभी छोर स्वर एवं वर्ण–योजना द्वारा परस्पर बँधते हों।

उपान्तिक बन्धता और शृंखलाघात के प्रसंग भाषा की सहज गति, रूप, स्वभाव और व्यवस्था से बँधे होते हैं । ध्वन्यात्मकता में सहज आकर्षण पाया जाता है । गाढ़बन्धत्व के प्रसंग तो भाषा के आकर्षक उपादान हैं । 'निराला' की प्रसिद्ध रचना 'जुही की कली' का अध्ययन उपान्तिक बन्धता के प्रसंग में द्रष्टव्य है—

विजन—वन—वल्लरी पर (वि—व, व—व; री—र)
सोती थी सुहाग भरी
स्नेह—स्वप्न—मग्न—अमल—कोमल—कोमल—तनु तरुणी
(स्—स्, न्—न्) म—म, ल—ल, त—त)

X X X

विरह—विधुर प्रिया संग—छोड़ (वि—वि)
किसी दूर—देश में था पवन (दू—दे)

X X X

आई याद कान्ता की कम्पित कमनीय गात (का—की—क—क)

X X X

..........गहन—गिरि—कानन (ग—गि)
.... की केलि कली —खिली साथ। (के—क, ली—ली)
निद्रालस वंकिम विशाल .... (वं—वि)

X X X

सुन्दर सुकमार देह सारी झकझोर डाली
(सु—सु, र—र, री—र, झ—झो)

.... कपोल गोल (ल——ल)

X X X

चकित चितवन निज चारों ओर फेर

(च—चि, न नि, रों—र—र)

X X X

खेल रंग प्यारे संग (र—सं, ग—ग)

(जूही की कली)

ऐसा कोई भी युग नहीं है जिसमें शृंखलाघात अथवा उपान्तिक बन्धता का प्रयोग न पाया जाता हो। शृंखलाघात की तुलना में उपान्तिक बन्धता का प्रयोग अधिक मुखर रहा है। उपान्तिक बन्धता और शृंखलाघात में 'ध्वनि–सृष्टि' समान रूप से मान्य है किन्तु दोनों के उच्चारण–बल में प्रायः भिन्नता पाई जाती है। शृंखलाघात उच्चारण–बल से नए अर्थ–बोध को रूपायित करने में अधिक सबल कारक बनता है। उपान्तिक बंधता को उच्चारण और ध्वनि दोनों का बल प्राप्त है किन्तु वह ध्वनि और पद– मैत्री, आनुप्रासिक योजना, अनुस्वार तथा वर्गीय स्वर–व्यंजना–मूलक चेतना की ओर अधिक उन्मुख है। कभी–कभी एक ही पद्यावतरण अथवा शब्द में उपान्तिक बन्धता और शृंखलाघात दोनों मिल जाते हैं। वीर रस की रचनाओं में यह प्रयोग अधिक पाया जाता है।

शृखलाघात और उपान्तिक बन्धता के परिप्रेक्ष्य में विभिन्न कवियों की एक दूसरे से तुलना की जा सकती है। भाषा–विज्ञान का स्वनिम प्रकरण इस क्षेत्र में 'शब्दाकर्षण शैली' का उपस्कारक अंग बन सकता है।

आधुनिक कवियों ने उपान्तिक बन्धता का अच्छा प्रयोग किया है। ऊपर निराला की रचना 'जुही की कली' को उद्धृत किया गया है। सम्पूर्ण छायावादी काव्य उपान्तिक बन्धता के गौरव से सम्पृक्त है। 'प्रसाद', 'निराला', पन्त और महादेवी वर्मा की रचनाओं में उपान्तिक बन्धता का सफल प्रयोग पाया जाता है। छायावादोत्तर काव्य में भी उपान्तिक बन्धता की अनवरत गूँज हैं।

(क) सगर्व भीम शान्ति में उठे अयास मुसकरा (स—स)
घनान्धकार की भिदी परम्परा (र—रा)
सफेद राख के अचेत शीत (त—त)

सर्व ओर रेंगते प्रसार में (रें—रे)
दबी हुई अनन्त ज्योति जग उठी (ज्—ज)
मलीन मृत्यु—गीत के उदास छंद बावरे (म—मृ, त्—त)
घनान्धकार के भुजंग—बन्ध दीर्घ साँवरे (न—न)
विनष्ट हो गये
प्रबुद्ध ज्वाल में हताश हो (ह—हो)
विशाल भव्य वक्ष से (वि—व्, व्)
वही अनन्त स्नेह की महान् कृतिमयी व्यथा (न्—ने, म—म)
बही अशान्त प्राण से महान् मानवी कथा। (म—मा)
(चाँद का मुँह टेढ़ा है पृष्ठ 62)

(ख) आ गये प्रियंवद ! केश कम्बली ! गुफा गेह ! (के—क, गु—गे)
राजा ने आसन दिया । कहा: (ने—न)
कृतकृत्य हुआ मैं तात ! पधारे आप (कृ—कृ, त—त्)
(कहीं भी खत्म कविता नहीं होती पृ0 33)

(ग) उसने कहा—
मेरे जूते की पालिश में
तुम अपना चेहरा देख सकते हो।
मैंने तिलमिलाकर सोचा (ल—ला)
वे लोग खुशनसीब हैं (श—सी)
जिनके चेहरे नहीं हैं।
फिर ख्याल आया (या—या)
नहीं वे लोग भले आदमी हैं (लो—ले)
जो जूते नहीं पहनते (जो—जो न—न, हीं—ह)
(खूँटियों पर टँगे लोग पृ0 34)

(घ) छिपी गमक फैली, रिमझिम, रिमझिम धुन केवल
(रि—रि, म—म, झि—झि, म—म)
सुन पड़ती थी उन झुलसी—झुलसी बेलों में
(झु—झु, ल—ल सी—सी, ल—लों)
हुलसी हरियाली, फूलों के झोंप बाँध दल
(हु—ह, ल—ली, ली—लों)
भेज गंध—सन्देश खिले कौंची—कौंची पर (कौं—कौं, ची—ची)

उर में गूँज कोयल और पपीहों के स्वर।

(उस जनपद का कवि हूँ पृ0 27)

रिमझिम–रिमझिम, झुलसी–झुलसी, कौंची–कौंची आदि पुनरुक्ति–प्रधान शब्दों में भाव की तीव्रता को कवि अधिक सघन बनाने में सफल है। 'रत्नाकर' ने 'उद्धव–शतक' में 'हमकौं लिख्यौ है कहाँ ?' की तीन बार आवृत्ति की है। अन्य उदाहरणों को भी प्रस्तुत किया जा सकता है, किन्तु इसका अधिक विस्तार यहाँ अपेक्षित नहीं है।

उपान्तिक बन्धता का यह प्रसंग अनुप्रास–योजना का स्मरण कराता है किन्तु अनुप्रास में सन्निकटता अनिवार्यतः मान्य है। उपान्धितक बन्धता में गति, ध्वनि, उच्चरण–त्वरा आदि पर भी ध्यान देना अनिवार्य है। पद–बंध पर ध्यान देने की क्रिया आकर्षण के परिप्रेक्ष्य को परखती है।

हिन्दी साहित्य के अनेक कवि शृंखलाघात और उपान्तिक बन्धता का प्रयोग अपने काव्य ग्रन्थों में किये हैं। आकर्षणमूलक इस काव्य सिद्धान्त (शब्दाकर्षण शैली) के परिप्रेक्ष्य में विविध कवियों के काव्यग्रंथों का अध्ययन किया जा सकता है। यहाँ आकर्षण के जितने कारण है, सब को समेटना होगा। काव्य सम्प्रदायों के विविध काव्य–सिद्धान्तों का अध्ययन किया जाना अनिवार्य होगा।

चतुर्थ अध्याय

शब्दाकर्षण शैली : सर्जना और समीक्षा के मूल स्वर

पूर्व पीठिका

कवि का सम्बन्ध सर्जना से है और आलोचक का सम्बन्ध समीक्षा से। कवि और समीक्षक दोनों का धर्म काव्य के मर्म को पहचानना है। जो काव्य–मर्म को नहीं पहचानता वह न कवि हो सकता है और न समीक्षक ही। रचना कवि और समीक्षक दोनों को चुनौती देती है। इस चुनौती में कौन कहाँ तक सफल हुआ है इसका मूल्यांकन कवि और समीक्षक की क्रमशः सर्जना एवं विवेचना–शक्ति के आधार पर किया जा सकता है। अर्थात् कवि काव्य–रचना में कहाँ तक सफल हुआ है और समीक्षक अपनी समीक्षा में।

कवि अपनी रचना में भावों का संश्लेषण करता है अतएव उसे सघनता तथा सबलता के लिए प्रयासरत होना पड़ता है। काव्य–संर्जना के समय शिल्प–तत्त्व की फिटिंग बहुत आकर्षक, ठोस और संगतिपूर्ण होनी चाहिए। शिल्प–सामंजस्य से शब्दलय और भावलय दोनों समृद्ध होते हैं इसीलिए शब्दलय की चर्चा करते समय भावलय की चर्चा आवश्यक हो जाती है, क्योंकि ये दोनों तत्त्व एक दूसरे से अन्तर्ग्रथित हैं। इनका अन्तर्ग्रंथन काव्य को आकर्षक बनाता है। शब्दलय और भावलय दोनों का संश्लेषण कवि द्वारा निष्पादित होता है और दोनों का विश्लेषण समीक्षक द्वारा। प्रस्तुत अध्य– यन में 'इष्टार्थ–संयोजन', 'अर्थानुदेश', 'कवि और समीक्षक के दृष्टि–बोध की एकतानता' आदि प्रकरणों पर विचार किया गया है। ये तीनों विचार–प्रकरण सर्जना और समीक्षा के मूल स्वर हैं। इनके अभाव में न तो सर्जना को पहचाना जा सकता है और न आलोचना को विवेचित किया जा सकता है ।

काव्य के आकर्षक स्वरूप की योजना के लिए कवि इष्टार्थ (अभिप्रेत अर्थ) को ग्रहण करने की चेष्टा करता है। कविता अनायास फूटती है— ऐसा कहना यथार्थ को चुनौती देना है। कवि की भाषानुभूति, कल्पना और मानसिकता की प्रक्रियाएँ वेग–परक होती हैं। चिन्तन का प्रवाह ;ब्नततमदजद्ध तीव्र होता है। इसलिए लोगों ने काव्य–रचना को अनायास फूटने वाली भावना से जोड़ लिया है। कविता स्वतः

स्फूर्त है किन्तु आयास–रहित नहीं । चिन्तन के समय और सर्जना के क्षणों में कवि जब शिल्प की ओर दृष्टि डालता है तो एक–एक शब्द–योजना के पीछे उसकी चेष्टा संकलित होती चलती है। कवि आयास करता है कि उसकी मानसिकता के अनुरूप भावों का सामंजस्य शिल्प–तत्त्व के साथ बैठ जाए, अन्यथा कविता का सम्पूर्ण स्वरूप विखर जाएगा। प्रथम प्रयास में सफल न होने पर कवि शिल्प–तत्त्व की छानबीन करता हुआ रचना के संशोधन में लीन हो जाता है।

समीक्षक की दृष्टि अत्यन्त पैनी और विशद होनी चाहिए। अर्थानुदेश के मानदंडों की सच्ची परख होनी चाहिए। जीवन–जगत की व्यापक चेतना का उसे समृद्ध अनुभव होना चाहिए। अनेक तथ्यों का विश्लेषण करता हुआ जब समीक्षक आलोचना के लिए तत्पर होता है, तब भी कुछ ऐसे विचार–विन्दु होते हैं जो कवि और समीक्षक के चिन्तन को सूक्ष्म रूप में पृथक् किये रहते हैं । एक उदाहरण लें —

बूँद–भर ध्यान तुम्हारा,
सागर–भर बदनामी !
जर्जर दीवारों के
कान खड़े हो गये क्यों ?
छुटभैये पीपल के
पात बड़े हो गये क्यों ?
कान उमेठा, चुगली
की कलमुँही रातों ने,
मारे फन जहरीले
अनकही अधबातों ने।
रत्ती–भर प्रीति तुम्हारी
मन–भर की हैरानी ।

(काजल और कनेर)

इस गीत में 'जर्जर दीवार' तथा 'छुटभैये पीपल के पात' का प्रसंग उल्लेख्य है । यह अनिवार्य नहीं है कि ये दोनों कवि और समीक्षक के लिए एक ही दृश्य–बोध से जुड़े हों। कवि ने जिस जर्जर दीवार अथवा छोटे पीपल के पत्तें को अनुभूति का विषय बनाया है, उसी के अनुरूप समीक्षक का भी सोच हो सकता है, पर वह अभिन्न रूप में सम्भव नहीं है, क्योंकि दीवार अथवा पत्ते कब, कहाँ,

किस रूप में किसके लिए अनुभूति का विषय बने, यह दृश्य – बोध एकरूप नहीं हो सकता ।

प्रकरण 1 :

इष्टार्थ – संयोजन

सफल रचनाकार मौलिकता को महत्त्व दिया करता है। उसकी रचना में इष्टार्थ – संयोजन के प्रति ललक पाई जाती है । अपनी व्यापक भावना को अभिप्रेत अर्थ के गौरव से मंडित करने का प्रयास रचनाकार इसी अर्थ में करता है । कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी, संस्मरण, रेखाचित्र सब में रचनाकार इष्टार्थ – संयोजन को रेखांकित करना चाहता है, क्योंकि इसके अभाव में रचना निष्प्राण लगती है । भाव, शिल्प एवं आकर्षण से परिपुष्ट त्रिविध चेतना इष्टार्थ – संयोजन की धुरी है । इसीलिए कहा जाता है कि इष्टार्थ – संयोजन कवि की सम्पूर्ण काव्य चेतना का समाहार एवं मूल स्वर हुआ करता है।[1] अखंडता का उक्त त्रिविध प्रवाह रचनाकार के बहुमुखी व्यक्तित्व को सघन अभिप्रेरणा से भर देता है फलतः वह भावात्मक और कलात्मक संवेगों के समवेत संघात को झेलता हुआ इष्टार्थ–संयोजन के लिए अग्रसर होता है।

इष्टार्थ–संयोजन रचनाकार के महत् उद्देश्य का मुख्य बिन्दु है। वह कलात्मक संवेग, शब्द–विन्यास, बिम्ब–प्रतीक–योजना, मिथकीय सन्दर्भ, काव्यात्मक मनोदीप्ति, परिवेशगत चेतना, सम्प्रेष्य वस्तु–विधान सभी की धारदार अभिव्यंजना के प्रति समर्पित रहता है। कालजयी रचनाओं में इष्टार्थ–संयोजन का अबाध प्रवाह पाया जाता है। किसी भी सर्जनात्मक कृति में उसके रचयिता का निश्चित दृष्टि–बोध प्रतिबिम्बित रहता है। इसको भली–भाँति निष्पादित करने की कला इष्टार्थ–संयोजन द्वारा ही सम्भव है ।

इष्टार्थ–संयोजन के लिए रचनाकार की मानसिकता उसकी सर्जनात्मक प्रतिभा से संगति बिठाती है। कल्पना की ठोस एवं रचनात्मक भूमिका रचयिता की मानसिकता को उद्वेलित कर उसे संतुलित दृष्टि–बोध प्रदान करती है।यह दृष्टि–बोध जीवनजगत् की समस्याओं, विचार–धाराओं, क्रिया–कलापों एवं गतिविधियों का समाहार हुआ करता है ।

यदि हम स्थूल ढंग से विवेचित करना चाहें तो कह सकते हैं—जैसे वास्तुविद् गारे और चूने की सहायता से एक – एक ईंट का संयोजन कर भव्य भवन रूप का खड़ा कर देता है तथा उसे प्रत्यक्ष अनुभूति और संवेदन का विषय बना देता है उसी प्रकार कवि भी अपनी अनुभूति कल्पना और शिल्प की सहायता से शब्दों की सुसंगति बैठाते हुए काव्य को आकर्षण के गौरव से भर देता है। शब्द और अर्थ के आकर्षण का सही स्वरूप इष्टार्थ – संयोजन की आधार शिला है। काव्य के सम्पूर्ण तत्त्व जो उसके आकर्षण के स्वरूप अथवा कारण हुआ करते हैं— सर्जना के क्षणों में इष्टार्थ—संयोजन के परिपथ से होकर गुजरते हैं। इष्टार्थ—संयोजन की भाव—भूमि अत्यन्त विशद है। कवि द्वारा संयोजित सभी विशेषताएँ, भाव—शिल्पगत सभी प्रतिपत्तियाँ इष्टार्थ— संयोजन के लिए प्रयुक्त होती हैं।

रचनाकार सर्जनात्मक क्षणों में अपनी विविध भावनाओं एवं अनुभूतियों का संश्लेषण करते हुए अपनी अभिव्यक्ति की प्रस्तुति करता है। संश्लेषण का यह ज्वार उसकी आन्तरिक मानसिकता से फूट पड़ता है। एक ओर शिल्प—विधान का प्रवाह होता है तो दूसरी ओर भावों की संसृष्टि। सर्जना के पश्चात् भाव और शिल्प का द्वैत मिट जाता है और शब्द अपने आकर्षण का प्रभाव सहृदय के लिए 'अर्थ' के रूप में प्रस्फुटित कर देता है।

शब्दाडम्बर, अलंकार—मोह, अस्पष्ट भाव—योजनाएँ इष्टार्थ—संयोजन में बाधक होती हैं। इष्टार्थ—संयोजन शब्द से आरम्भ होकर रचना के सम्पूर्ण कलेवर तक फैल जाता है। इसका व्यापक प्रभाव रचना में लक्षित होता है। इष्टार्थ—संयोजन द्वारा ही कवि रचना के स्वरूप, प्रवाह, भावाभिव्यंजना; स्थिति एवं मन्तव्य को ध्वनित कर पाता है। इस सन्दर्भ में लेखक की पुस्तक 'बिहारी—सतसई : नव्य दृष्टि का अध्ययन किया जा सकता है।

प्रकरण 2 :

अर्थानुदेश

शब्द और अर्थ परस्पर आकर्षण—बद्ध हैं। शब्द, अर्थ—स्फोट के लिए ध्वनि तरंग उत्पन्न करते हैं। प्रयोक्ता शब्द—प्रयोग अर्थ—संवहन के लिए करता है। अर्थ विपरीत आकर्षण से शब्द को पकड़ना चाहता है किन्तु तब तक शब्द ध्वनि—तरंगों में प्रवाहित हो चुका होता है। ऐसी स्थिति में अर्थ स्वतंत्र हो जाता है और वह सहृदय

पर प्रभाव डालते हुए उसे अपने नियंत्रण में ले
लेता है। इसे निम्नलिखित रेखाचित्र द्वारा भलीभाँति स्पष्ट किया जा सकता है।
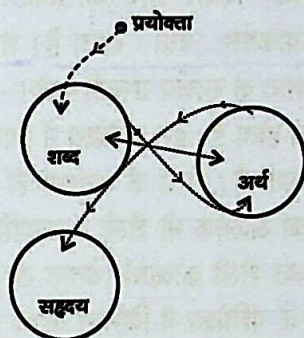
काव्यानुशीलन के लिए पाठक और श्रोता की अपेक्षा समीक्षक को अधिक सावधान रहना पड़ता है। यहाँ पाठक और श्रोता का सामान्य अर्थ ही अभिप्रेत है। समीक्षक को अर्थानुदेश के मानदंडों को स्वीकार करने के पश्चात् ही कृति के अनुशीलन – परिशीलन के लिए तत्पर होना पड़ता है। अर्थानुदेश के मानदंड अनेक हो सकते हैं किन्तु संक्षेप में उनको इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है —

1—— अर्थगत जटिलता की पहचान।
2—— कवि के मन्तव्य का संकेत – ग्रहण।
3—— युगानुरूप व्याख्या।
4—— शब्दगत आकर्षण के परिप्रेक्ष्य में अर्थगत आकर्षण का ध्वनन
5—— शैली के आकर्षण में कृतिगत काव्यार्थ – चेतना का अनुशीलन
6—— विभिन्न काव्य तत्त्व और कृतिगत दिशा–दृष्टि की आलोचनात्मक विवेचना।

कोई भी रचना सरल हो अथवा कठिन उसकी एक आन्तरिक अर्थ–सत्ता होती है, उस आन्तरिक अर्थ–सत्ता की गुत्थी आलोचक जब तक नहीं खोल देगा, रचना की सही परख नहीं होगी। अर्थानुदेश की प्रक्रिया में सम्पूर्ण अर्थ की स्पष्ट अभिव्यक्ति हो जानी चाहिए। शब्द–योजना के द्वारा कवि ने अपने मन्तव्य और मानसिकता को किस रूप में संकेतित किया है। कवि की अनुभूति, कल्पना तथा आकर्षण का संकेत किस रूप में ग्राह्य है– इसकी सच्ची परख आलोचक को होनी चाहिए। रचना का युग–सन्दर्भ देखते हुए उसकी समीक्षा की जानी चाहिए किन्तु

यदि आवश्यक हो तो भूत, वर्तमान और भविष्यत् की सम्भावनाओं का निर्देश तथा रेखांकन समीक्षक को करना चाहिए। 'कामायनी' की युग–सापेक्ष्य व्याख्या करते हुए उसमें निहित त्रिकालिक विचार–दृष्टि का संकेत किया जा सकता है। शब्द के आकर्षण में अर्थ का आकर्षण बँधा रहता है। शब्द के अभाव में रचना का अस्तित्व सम्भव नहीं है। शब्द के स्वरूप उसकी प्रयोग–परक स्थिति, एवं शक्ति के अनुसार ही अर्थ भी ध्वनित होता है। इस परिप्रेक्ष्य में रचना के अर्थगत आकर्षण का मूल्यांकन सम्भव हुआ करता है। शैली के अनुरूप ही अर्थ का आकर्षण सम्पन्न होता है। विचार–सृष्टि का आलोक भी शैली में समाहित है। शिथिल, प्रभावहीन, परिपाटीग्रस्त और अस्पष्ट शैली काव्यार्थ–चेतना को प्रतिपादित करने में अक्षम सिद्ध होती है। आकर्षण के परिप्रेक्ष्य में विभिन्न काव्य तत्त्वों के आधार पर किसी कृति की दिशा–दृष्टि की समीक्षा अथवा उसका मूल्यांकन प्रस्तुत करना अर्थानुदेश के अनुकूल पड़ता है।

अर्थानुदेश के प्रति समीक्षक को समर्पित होना पड़ता है। अर्थानुदेश के प्रति ईमानदार न होने पर निश्चय ही पूर्वाग्रह, संकुचित दृष्टि एवं स्खलनशील प्रतिभा के कारण वह समीक्ष्य के प्रति न्याय नहीं कर सकेगा। अर्थ जिन प्रबल, सटीक एवं स्वस्थ भावनाओं को प्रकट करता है, ध्वनियों का स्फोट करता है, आकर्षण और चमत्कार को जन्म देता है, उन्हीं अनुदेशों के अनुरूप समीक्ष्य कृति का मूल्यांकन प्रस्तुत किया जाना अनिवार्य हुआ करता है। अर्थ शब्द के मर्म से ध्वनित होता है अतः वह कृतिकार की प्रबल अनुभूतियों का संकेतक होता है। अर्थ शब्दाकर्षण से बँधा हुआ तत्त्व है अतएव अर्थगत वैशिष्ट्य स्वयं एक अनुदेश है जो आलोचक को सचेत्त किए रहता है।

अर्थ कवि की अनुभूतियों के अनुरूप सोचने–विचारने के लिए बाध्य करता है, पर अनिवार्य नहीं कि सहृदय (पाठक, श्रोता, समीक्षक) कवि जैसा ही सोचें। अर्थगत सोच के कारण ही समीक्षक कभी–कभी कवि के विचारों का जोरदार खंडन करता है और कभी मंडन। समीक्षक अर्थानुदेश का अनुगामी होता है।

सम्पूर्ण काव्य–भित्ति का आधार है– सम्प्रेषणीयता। सम्प्रेषण के अभाव में काव्य–मर्म की बात करना व्यर्थ है। इस सम्प्रेषण के ताप को अर्थानुदेश अधिक पुष्ट करता है। अर्थ अपने मर्म का ओज प्रकट करता हुआ सम्प्रेष्य भावनाओं की भूमिका प्रस्तुत करता है। रचना में प्रयुक्त भाव–शिल्प की पुनरुक्तियाँ अर्थानुदेश को

शिथिल एवं अप्रभावकारी बना देती हैं।

शब्दाकर्षण से प्रस्फुटित एवं चमत्कृत अर्थ सहृदय को आकृष्ट करता है। अपने अनुदेशों की व्यंजना तक उसे खींच ले जाना चाहता है। 'खींच ले जाने' का यहाँ एक विशिष्ट अर्थ है— जिस प्रकार शब्द में आकर्षण का तत्त्व है, उसी प्रकार अर्थ में भी आकर्षण का तत्त्व है, किन्तु यह आकर्षण उचित शब्द के अभाव में ध्वनित नहीं हो सकता।

अर्थ–प्रक्रिया के इस चिन्तन को 'अर्थादेश' न कहकर 'अर्थानुदेश' ही कहना संगत है, क्योंकि अर्थ का आदेश तब होता, जब अर्थ स्वतंत्र होता। उसकी स्वतंत्र सत्ता होती। अर्थ तो शब्द का अनुगमन करता है— उसके पीछे (अनु) चलता (गमन) है। वह स्वयं अनुदेशित होता है। शब्द पर अवलम्बित होता है, फिर आदेश कैसा? अर्थ शब्द–प्रचालित होता है।

समीक्षक का धर्म रचनाकार से भिन्न होता है तथापि रचनाकार से तादात्म्य किए बिना वह सफल समीक्षा प्रस्तुत नहीं कर सकता। रचनाकार की प्रवाह–दिशा में समीक्षक को भी चलना पड़ता है। समीक्षक के व्यक्तित्व को रचनाकार के व्यक्तित्व से भी अधिक प्रखर होना पड़ता है। वह अर्थ की संसूच्य सम्भावनाओं के आधार पर रचना को समीक्षा की कसौटी पर कसना चाहता है। यदि समीक्षक अर्थानुदेश से पृथक् होकर रचनाकार की मनोभूमि को टटोलने का प्रयास करता है तो वह विफल हो जाता है। सूरदास की गोपिकाओं के प्रसंग में यदि हम अर्थानुदेश से पृथक हो जाएँ तो उनका विरह मात्र प्रलाप लगेगा और मुक्तिबोध का 'ब्रह्मराक्षस' भावातीत हो जाएगा। 'अन्धायुग' का सम्पूर्ण चित्रण कोरी कल्पना प्रतीत होगा। समासतः, समीक्षक को अर्थानुदेश के प्रति सचेष्ट होना पड़ता है और सावधानी भी बरतनी पड़ती है।

रचनाकार शब्दों की सुसंगत योजना करने में यदि विफल हो जाए तो भाषा की भूमिका प्रभावशाली नहीं बन पाती है। ऐसी स्थिति में अर्थानुदेश का आकर्षण शिथिल पड़ जाता है और आलोचक को रचनाकार की कृतित्व– शक्ति पर प्रहार करने का खुला अवसर मिल जाता है। केशवदास की 'रामचन्द्रिका' में शब्द–योजना का मोह पाया जाता है, पर शब्दाकर्षण का नहीं। अलंकार वृत्ति के अन्तः प्रवाह में निमग्न होने के कारण उनका कवि स्थल–स्थल पर काव्यार्थ–चेतना की समानांतर धारा से पृथक् हो गया है। कुछ समझदार आलोचक केशव के पीछे

ऐसे पड़ते हैं जैसे रेलगाड़ी के पीछे धुआँ।

तुलसी के 'रामचरतिमानस' और जयशंकर 'प्रसाद' के 'आँसू' में पाया जाने वाला शब्दाकर्षण अर्थानुदेश की समानांतर धारा से अपनी सुसंगति बनाए हुए है। इसी प्रकार 'निराला' की 'राम की शक्ति पूजा' तथा 'सरोज–स्मृति' में भी शब्दाकर्षण का सुसंगत प्रवाह है । प्रयोगवादेतर हिन्दी कविता में शब्दाकर्षण का असंदिग्ध प्रभाव पाया जाता है, किन्तु कहीं–कहीं यह शब्दाकर्षण अर्थानुदेश की गरदन छाँटने के लिए केशवदास की कुल्हाड़ी बन गया है।

प्रकरण 3 :

कवि और समीक्षक के दृष्टि–बोध की एकतानता

कवि और समीक्षक एक दूसरे से किस बिन्दु पर मिलते हैं– यह एक गणितीय प्रश्न है, किन्तु कवि और समीक्षक की भावना दृष्टि में संवेदनशीलता की जो महत्त्वपूर्ण भूमिका है, उसकी स्वीकृति के प्रति वे एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं। दोनों का भावनालोक रागाकर्षण से युक्त है। कवि की कल्पना और समीक्षक की चिन्तन–भूमि में समन्वय का बीज निहित होता है। कवि में कल्पना–तत्त्व अधिक आवेग युक्त होता है जबकि समीक्षक में चिन्तन–तत्त्व (बौद्धिक तत्त्व) । यह कोई ठोस मान्यता नहीं है तथापि दोनों के दृष्टि–बोध की एकतानता की एक सूक्ष्म भेदक रेखा अवश्य है।

यदि उपर्युक्त मान्यताएँ सत्य हैं तो कवि और समीक्षक के बीच कौन–सा ऐसा तन्तु है जो दोनों को जोड़ता है ? वस्तुतः चिन्तन के धरातल पर कवि और समीक्षक को अविच्छिन्न मानना असंगत नहीं। चिन्तन के धरातल पर कवि और समीक्षक का यही प्रथम मिलन–बिन्दु' है।

कवि और समीक्षक दोनों अपनी युग–दृष्टि से संचालित होते हैं। कवि का काल–चिन्तन भूत, भविष्य और वर्तमान से आलोकित होने पर अधिक संवेद्य हो सकता है। एक ही कृति के भिन्न–भिन्न आलोचक भिन्न–भिन्न युगों की देन हुआ करते हैं । कवि का दृष्टिबोध भूत, भविष्य और वर्तमान के विभिन्न पहलुओं को पहचानने में यदि समर्थ है तो किसी भी युग का समालोचक उसकी कृति के अवमूल्यन में सफल नहीं हो सकेगा। मानवीय संवेदना का अनुभव–जगत अत्यन्त

विस्तृत है। कोई भी समीक्षक लोकानुभव से अपरिचित होने पर किसी कृति की मान्य विशेषताओं का आलेखन नहीं कर सकता है।

सम्प्रेषणीयता का प्रभाव कवि और समीक्षक दोनों पर होता है। कवि सम्प्रेषणीयता की अनुभूति से आन्दोलित हो उठता है किन्तु समीक्षक इसे सूक्ष्म एवं पैनी दृष्टि से ग्रहण करता है। कवि की मानसिक वृत्तियों को समीक्षक चिन्तन की कसौटी पर कसता है। उनके अलक्ष्य लोक को वह प्रत्यक्ष करना चाहता है। कवि सर्जना के क्षणों में हर्ष–विभोर हो सकता है और समीक्षक भी। किन्तु समीक्षक को अपने विचारों को परख की कसौटी पर कसना होता है। अनवधानता की स्थिति में कवि अथवा समीक्षक अपनी परिभाषा खो देते हैं अतएव यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कवि में 'सतर्क अनुभूति' की प्रधानता होती है और समीक्षक में 'सतर्क चिन्तन' की। अनुभूति और चिन्तन एक दूसरे के सहोदर हैं।

कवि इष्टार्थ–संयोजन के प्रति अधिक सजग रहता है और समीक्षक इष्टार्थ–संयोजन द्वारा प्रतिफलित अर्थानुदेश से। कवि और समीक्षक की सर्जनात्मक चेतना में प्रगाढ़ सम्बन्ध स्थापित होने पर इष्टार्थ– संयोजन और अर्थानुदेश में समन्वय स्थापित हो जाता है। कवि जिस कल्पना और अनुभूति के माध्यम से सर्जना के लिए समुद्यत होता है, समीक्षक उससे भिन्न दृष्टि अपनाने पर अर्थानुदेश की मूल ध्वनि से पृथक् हो जाता है। यह भिन्नता कवि और समीक्षक की दृष्टि–बोध की एकतानता के लिए कुठार सिद्ध होती है। कवि के चिन्तन का निर्बल फलक इष्टार्थ–संयोजन में विफल होता है और समीक्षक के चिन्तन का निर्बल फलक अर्थानुदेश में। कवि अर्थानुदेश की ध्वनि को समीक्षक की दृष्टि से ग्रहण कर सकता है, कवि की दृष्टि से नहीं। यदि वह कवि की दृष्टि से ही अपनी रचना की समीक्षा करना चाहता है तो वह काव्य रचना में समाहित अर्थानुदेश को सही ढंग से नहीं पकड़ सकता है। इसी प्रकार आलोचक इष्टार्थ–संयोजन के भावालोक में खो जाने पर अर्थानुदेश के बन्धन को शिथिल कर देगा और आलोचना की मूल चेतना को आहत किए बिना नहीं छोड़ेगा। कवि और समीक्षक के दृष्टि–बोध की एकतानता के सूत्र इस स्थिति में बिखर जाएँगे।

कवि अपनी रचना को शब्दमयी बनाता है और समीक्षक शब्दमयी रचना को अर्थमयी चेतना के परिवेश में परखता है। कवि की दृष्टि शब्द– योजना से अर्थ–योजना की ओर उन्मुख होती है और समीक्षक की दृष्टि अर्थ–योजना से

शब्द–योजना की ओर। संवेदनात्मक उन्मेष कवि और समीक्षक दोनों में समान रूप से पाया जाता है।

समीक्षक को उस दृष्टि–बोध से सम्बन्ध स्थापित करना पड़ता है जिससे कवि गुजरा है। जीवन्त समीक्षा में कवि की मानसिकता की परख उद्घाटित हो जाती है। कवि की सर्जनात्मक चेतना समीक्षक की अन्वीक्षण –शक्ति की पूरी पकड़ में आए बिना सही–सही उद्घाटित नहीं हो सकती है। अतः कवि की संवेदनात्मक शक्ति को ध्वनित करने के लिए गहराई तक उतर कर उसकी प्रतीयमान अर्थ–चेतना को ग्रहण करना समीक्षक के लिए अनिवार्य है। सतही अध्ययन, सस्ती लोकप्रियता, नकलबाजी, घिसी– पिटी परम्परा का अन्धानुकरण, खेमेबन्दी, वादानुराग आदि सभी तत्त्व आलोचना की मूल ध्वनि के विरोधी हैं। 'शब्दाकर्षण शैली' कोई वाद नहीं, वरन् विभिन्न वादों से उत्पन्न हुई समीक्षा–जन्य भ्रान्ति का समाधान है जो सार्वकालिक काव्य– तत्त्व, शब्द, आकर्षण और शैली से अनुशासित है।

कवि और समीक्षक में स्वानुभूतियों का प्रयोग लक्षित होता है। चिन्तन और स्वानुभूतियों का प्रभाव दोनों पर लागू होता है। मानसिकता, प्रसंगोचित मौलिकता, इष्टार्थ–संयोजन और अर्थानुदेश का प्रस्फुटन किस रूप में हुआ है? इसकी पहचान कवि और समीक्षक दोनों को करनी पड़ती है। कवि और समीक्षक की मनोभूमियों का यहीं आदान–प्रदान होता है। इस आदान–प्रदान की स्थिति में ये एक दूसरे के पृथकत्व को तोड़ते हैं।

आज की समीक्षा यथार्थ–बोध के नाम पर टूटते मूल्यों, कुंठा और निराशा की जटिलताओं तथा बिम्ब–प्रतीकों के जाल में खो गई है। काव्य की मूलचेतना ने शब्दाकर्षण शैली–के तत्त्वों की छान–बीन से अभी तक सम्बन्ध नहीं जोड़ा है। भारतीय काव्यशास्त्र के मूल में निहित बीज–तत्त्वों से भी सामंजस्य बिठाने के लिए उसने उसे आधुनिक स्वरूप नहीं प्रदान किया है। संस्कार से दूर भागने के चक्कर में असंस्कृत विचारों का पुछिल्ला पकड़ना समीक्षात्मक शैली का विरोध है। प्राचीन एवं नवीन संस्कारों के बीच से राजपथ बनाना किसी भी अर्थ में अनुपयुक्त नहीं है।

काव्य में निहित आकर्षण–तत्त्व उसे रमणीय और जीवंत बनाते हैं। यह रमणीयता काव्य के आकर्षण–तत्त्व की मूल चेतना है। समीक्षक का दायित्व है कि वह समीक्ष्य ग्रन्थ में निहित आकर्षक भाव–तत्त्व की छानबीन करे, उसकी गहराइयों में पैठकर उसकी आकर्षणगत अनुभूति की परख करे।

भावात्मक तत्त्व की छानबीन का अर्थ है–काव्य में निंहित संवेदना, भावानुभूति, शब्दार्थ–चेतना एवं काव्य के विभिन्न तत्त्वों की कसौटी पर समीक्ष्य ग्रन्थ अथवा रचना विशेष का आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना। इस रमणीयता और आकर्षणगत अनुभूतियों की व्यापकता का समीक्षक को ध्यान रखना चाहिए। कवि के मंतव्य की छानबीन अर्थानुदेश के अनुसार करना चाहिए। एक ही रचना एक समीक्षंक को आकर्षक लगती है तो दूसरे समीक्षक को नीरस। यह देखना चाहिए कि इष्टार्थ–संयोजन का लक्ष्य रचनाकार द्वारा पूर्ण हुआ है, अथवा नहीं।

काव्य आकर्षक होना चाहिए। उसमें रमणीयता का गुण होना चाहिए। मन–मस्तिष्क को प्रभावित एवं हृदय को उद्वेलित करने की शक्ति होनी चाहिए। समीक्षक में कवि की विचारानुभूतियों को समझने की चेष्टा होनी चाहिए। शब्दाकर्षण शैली (Style of the dictional Charm) की सम्पूर्ण आधारशिला में कवि की कृति के अनुशीलन का व्यापक स्वरूप स्वीकार किया गया है। रचनाकार के काव्य और समीक्षक की विचारात्मक कसौटी के तत्त्वों की चर्चा की गई है। इन सभी मानदंडों के आधार पर हम कवि और समीक्षक के दृष्टिबोध की एकतानता को निरूपित कर सकते हैं।

पंचम अध्याय

शब्दाकर्षण शैली : आलोचनात्मक धरातल

पूर्व पीठिका

शब्दाकर्षण शैली की व्यापक चर्चा के पश्चात् इसके आलोचनात्मक स्वरूप की एक संक्षिप्त चर्चा आवश्यक प्रतीत होती है । इस चर्चा की पुष्टि में कुछ रचनाओं की समीक्षा प्रस्तुत करना श्रेयस्कर होगा।

भारतीय काव्य–परम्परा अत्यंत विशद और प्राचीन है। कवियों की एक लम्बी शृंखला इस क्षेत्र में देखी जा सकती है। प्रबन्ध और मुक्तक के साथ चम्पू काव्य के भी दर्शन होते हैं। प्रबन्ध काव्य की रचना में महाकाव्य और खंडकाव्य दोनों को महत्त्व प्रदान किया गया है। मुक्तक काव्य की परम्परा कम समृद्ध नहीं है। इस परम्परा का समाहार करते हुए 'शब्दाकर्षण शैली के आलोचनात्मक धरातल' का प्रकाशन करना समीचीन होगा।

प्रकरण 1 :

दिवस का अवसान ....

उपर्युक्त अवतरण 'प्रिय–प्रवास' में इस प्रकार अंकित है —

दिवस का अवसान समीप था,
गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरु–शिखा पर थी अब राजती
कमलिनी–कुल–वल्लभ की प्रभा।

उपर्युक्त अंश की व्याख्या और समीक्षा विभिन्न विद्वानों द्वारा विवेचित की गई है, किन्तु उनका दृष्टिकोण शब्दाकर्षण शैली की समीक्षा–पद्धति से भिन्न रहा है । इस पद्धति के अनुसार इन पंक्तियों की समीक्षा निम्नलिखित ढंग से विवेचित की जा सकती है।

कवि की मानसिकता किसी प्रबन्ध काव्य की रचना में जब लीन होती है तब उसका दृष्टि–बोध (Vision) अत्यन्त विशद हो जाता है । आकर्षण के अनेक

प्रभावशाली विचार–तन्तु उसकी मानसिकता को आवृत कर लेते हैं। आकर्षण, शब्द–योजना, शैली आदि के महत् प्रभाव को स्वीकार कर प्रसंगोचित मौलिकता की पृष्ठभूमि तैयार करते हुए वह सम्प्रेष्य भाव–योजना के लिए अग्रसर होता है। 'हरिऔध' का कवि इस महत् उद्देश्य की भाव–धारा से पूर्णतया प्रभावित है। निश्चय ही 'प्रिय–प्रवास' की रचना के पूर्व, कवि विचारों के संसार में लीन हुआ होगा। उसने कृष्ण के गोकुल निवास और पुनः प्रस्थान तथा प्रवास का दृश्य अपने ज्ञान–चक्षुओं से आँका होगा। देखें–

'दिव' का अर्थ है चमकना, उज्ज्वल होना, प्रकाश, उजाला आदि। तो 'दिवस' का अर्थ क्या होगा? वही दिन दिवस कहलाएगा जिसमें चमकीलापन हो, प्रकाश हो और भव्य हो। स्पष्ट है कवि का दृष्टि–बोध 'आकर्षक दिन' की ओर संकेत कर रहा है। एक ऐसे दिन के लिए जो दिव्य तथा भव्य हो। कवि 'दिवस' को सामान्य अर्थ में प्रयुक्त न कर उसे एक विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त करना चाहता है। अनुभूतियों का आकर्षण जीवन की 'परिवेशगत प्रासंगिकता' से पृथक् कोई सत्ता नहीं रखता है। इस दृष्टि से 'दिवस' को देखें। दिवस शब्द में चेतना और जागरण का अर्थ भी समाहित है। यदि आकाश तमसाछन्न, वायु–प्रताड़ित, शीतल लहरयुक्त हो तो वह दिवस का अर्थ न दे सकेगा। कवि इस शब्द में अपने मौलिक भाव–बोध को समाहित कर अभिनव काव्यार्थ–चेतना का स्फोट करना चाहता है। 'दिवस' सम्पूर्ण सुखद स्थितियों को व्यंजित करने में समर्थ है। ऐसा दिवस जब 'अवसान' से जुड़ेगा तो निश्चय ही सारा का सारा वातावरण प्रभावित होगा। कोई नहीं चाहेगा, ऐसे दिवस का अवसान कभी हो। दिवस यदि सुख का वाचक है तो अवसान दुःख का। दो विरुद्ध–धर्मी भावोत्तेजनाओं की तीखी अनुभूति ! सुख–दुःख के अन्तर्द्वन्द्व की इतनी तीखी, सांकेतिक और प्रबल संवेदना का चित्रण करने में कामायनीकार भी चूक गया है —

हिम गिरि के उत्तुंग शिखर पर
बैठ शिला की शीतल छाँह !
एक पुरुष भीगे नयनों से
देख रहा था प्रलय – प्रवाह !
(कामायनी)

'एक पुरुष भीगे नयनों से'—यहाँ अन्तर्द्वन्द्व की पीड़ा स्पष्ट व्यक्त हो गई

है। 'प्रिय–प्रवास' में यह पीड़ा अप्रत्यक्ष रूप से व्यंजित हुई है।

'प्रिय–प्रवास' के मूल में विप्रलम्भ शृंगार की ही व्यापकता है। 'दिवस' का बना रहना सुखद संयोग का वाचक है और इसका 'अवसान' विप्रलम्भ का। अवसान से जिस अवसाद को लक्षित किया गया है उसका फलक अत्यन्त विस्तृत है। विस्तृत नभोमंडल के पश्चिमी क्षितिज पर डूबता हुआ सूर्य ! उसी तारतम्य में संवेदना की उभरती हुई चित्रपटी ! लोकनायक कृष्ण का गोकुल से प्रस्थान ! द्रष्टव्य यहाँ यह है कि कवि ने जिस मंगलाचरण की सृष्टि की है, वह वस्तुनिर्देशात्मक है। वस्तु– निर्देशात्मक मंगलाचरण में परिवेश के अंकन के बिना स्वाभाविकता नहीं आती है। वस्तुनिर्देश चित्रपटी की उस बुनावट के सदृश है, जिसमें परिवेश के रेशे–रेशे स्पष्ट झलकते हों। 'कामायनी' के प्रारम्भ में 'प्रसाद' ने वस्तुनिर्देशात्मक मंगलाचरण के द्वारा परिवेश के व्यापक फलक को बिम्बात्मक सम्प्रेषणीयता का आकर्षण प्रदान किया है। 'हरिऔध' ने भी इस बिम्ब–योजना के व्यापक फलक को उक्त पंक्तियों में चित्रित किया है।

वस्तुनिर्देशात्मक मंगलाचरण का सम्बन्ध परम्परागत भावनाओं एवं संस्कारों से है। गोपिकाओं की मनःस्थिति को कवि ने काव्यगत मनोवैज्ञानिकता के परिवेश में रखकर 'लोहित' (अरुणवर्णी) किरणों द्वारा अभिव्यक्त किया है। परम्परा में अरुण वर्ण—लाल रंग—प्रेम के प्रतीक के रूप में स्वीकृत है। इस अवतरण में आकर्षण अपने पूर्ण वेग के साथ व्यक्त हुआ है। एक–एक शब्द में आकर्षण व्याप्त है। सन्दर्भगत आकर्षण और शब्दगत आकर्षण के साथ भावाभिव्यक्ति का आकर्षण स्पष्ट रूप में प्रस्फुटित हुआ है। पूरे छन्द में शैलीगत आकर्षण का रूप दीप्त हो रहा है । जो लोग यह कहना चाहते हैं कि प्रश्न सम्प्रेषण का नहीं, प्रश्न अभिव्यक्ति का है, वे 'हरिऔध' की उक्त पंक्तियों में अपनी भावनाओं की समानान्तरता देख सकते हैं ।

'समीप' शब्द का परम्परागत अर्थ—सान्निध्य तक सीमित है, जबकि यहाँ इस शब्द का खिंचाव–संयोग और वियोग–दोनों ओर है। कृष्ण समीप हैं– वह कमलिनी–कुल–वल्लभ हैं— सूर्य के समान तेजोदीप्त। गोपिकाओं के प्राण–वल्लभ। ये गोपिकाएँ कमलिनी के सदृश खिलती हैं— जब कृष्ण का सामीप्य होता है। उनके अभाव में गोपिकाओं की स्थिति क्या होगी ? स्पष्ट है वे

प्रफुल्ल न रह सकेंगी। यहीं से 'समीप' शब्द का आकर्षण वियोग (अवसान) की ओर अग्रसर होता है। सूर्य, कमल–कुल–वल्लभ है, परन्तु गोपिकाएँ—कमलिनी–कुल —कमलिनी के समूह के सदृश हैं, अतएव उनके प्रति सूर्य की किरणों का आकर्षण एवं प्रभाव अधिक भाव–व्यंजक हो गया है, क्योंकि विपरीत लिंगीय प्रभाव परम्परा से गृहीत है। इतना ही नहीं, यह भाव उदात्तता के साथ–साथ मदनोद्वेग को भी प्रभावोच्छ्वसित करता है जो शृंगार का प्राण है। तुलसी ने ग्राम–वधूटियों को 'कंज–कली के रूप में दिखाकर परम्परागत अर्थ –बोध को प्रस्फुटित किया है—

अनुराग तड़ाग में भानु उदै,
बिगसीं मनो मंजुल कंज कली।

(कवितावली)

राम वन–मार्ग में चल रहे हैं–'तून–सरासन–बान धरें, तुलसी वन– मारग में सुठि सोहैं।' मात्र कुछ क्षणों के लिए राम के सान्निध्य में आई हुई ग्राम–ललनाओं के प्रेमावेग को दिखाते हुए तुलसी ने उनके प्रसन्न होने की बात की है। तुलसी और 'हरिऔध' में अन्तर यह है कि तुलसी की ग्राम ललनाएँ राम के आगे बढ़ने की सम्भावना से भली–भाँति परिचित हैं; किन्तु हरिऔध की गोपिकाएँ अभी तक इससे अनजान हैं। कवि का कौशल तो यह है कि वह गोपिकाओं के भावी विरह को अस्तप्राय सूर्य से लक्षित कर रहा है। दोनों अवतरणों में नायक 'सूर्य–रूप' ही हैं। तुलसी की ग्रामीण ललनाएँ 'कंज–कली' मात्र हैं किन्तु 'हरिऔध' की गोपिकाएँ पूर्ण विकसित 'कमलिनी'। अस्तप्राय सूर्य उस भावी घटना का संकेतक है, जो कुछ क्षणों में ही ब्रजमंडल के परिवेश को आन्दोलित करने वाला है। संकेत की इतनी गहरी संवेदना कवि के मनोजगत के व्यापक चिन्तन का परिणाम है।

छन्द का प्रवाह आगे बढ़ता है। इस छन्द में प्रयुक्त 'अब' शब्द भी बड़े महत्त्व का है। तरु–शिखाओं पर सूर्य की किरणों का सुशोभित होना वर्तमान स्थिति में ('अब' से भी वर्तमान का बोध हो रहा है) 'दिवस' के उस स्वरूप की व्यंजना कर रहा है जो सुखद और संयोग–परक है। मानव जीवन के सन्दर्भ के साथ–साथ मानवेतर–जगत के हर्ष–विषाद को भी अंकित करना श्रेष्ठ काव्य–कला है। इसमें कोई सन्देह नहीं। अनुरागमयी किरणें 'दिवस' के रूप में ब्रजवासियों में व्याप्त हैं

और पुनः वही किरणें तरु–शिखाओं पर सुशोभित होकर मानवेतर–जगत को भी प्रभावित किये हैं। इस सान्ध्य बेला में कृष्ण के प्रति अनुराग की किरणें सम्पूर्ण ब्रज में सुशोभित हो रही हैं। निश्चय ही, प्रकृति का यह परिवेश कृष्ण के जाने के पूर्व की भूमिका प्रस्तुत कर रहा है।

'दिवस का अवसान' अस्तप्राय सूर्य का बोध करा रहा है। कमलिनी–कुल–वल्लभ–सूर्य–का यह अवसान एक व्यापक परिवेश को अपने में समेट रहा है । कृष्ण का ब्रज से जाना और पश्चिमी क्षितिज मंडल में सूर्य का डूबना— दोनों का एक कुतूहल पूर्ण सामंजस्य यहाँ स्पष्ट झलक रहा है । सूर्य के अस्त होने से जगत तिमिराछन्न हो उठेगा और कृष्ण के जाने से ब्रजमंडल उदासीन, व्यथित और पीड़ित। सूर्य नित्य ही नभोमंडल में, पूर्वी क्षितिज से उभर कर आता है । सारा जगत उसकी किरणों के प्रकाश से भर जाता है। आनन्द की एक लहर दौड़ जाती है । कृष्ण भी ब्रज – मंडल से चलकर मधुवन के लिए अपनी गायों के साथ प्रस्थान करते हैं । गोपिकाएँ वहाँ कृष्ण को पाकर नित्य ही जीवन के सारे आनन्द सहज ही प्राप्त करती हैं । सूर्य और कृष्ण की इन नैत्यिक क्रियाओं में मानव और प्रकृति के बीच चल रहे घटना – चक्रों की अभिन्न समानता है । 'दिवस' का सम्बन्ध कृष्ण और गोपिकाओं की संयोगपरक भावात्मक प्रसन्नता से है और 'अवसान' का सम्बन्ध मनोमालिन्य व्यंजक ब्रजवासियों की मनोदशा से। 'गगन' की व्यापकता और नीलाभ–वर्ण का सादृश्य–बोध कृष्ण की सर्वव्यापी लोकप्रियता और उनके शरीर–बन्ध के सौन्दर्य से सम्बद्ध है। 'कमलिनी–कुल–बल्लभ'—सूर्य का सम्बन्ध गोपी–कृष्ण से है। तरु के शिखरों पर सूर्य का दीप्त होना, ब्रजमंडल के प्राकृतिक परिवेश की अनुराग–जन्य स्थिति का संकेतक है। यह व्यापक काव्यात्मक चारुता, शब्दाकर्षण शैली (Style of the Dictional Charm) की विशद भाव–भूमि को व्यंजित करने में सक्षम है। सूर्य कमल–कुल–वल्लभ है। कृष्ण गोपियों के प्राण–वल्लभ हैं–इसीलिए कमलिनी–कुल वल्लभ का प्रयोग किया गया है।

प्रकरण 2 :

वह तोड़ती पत्थर

'निराला' की प्रसिद्ध रचना 'तोड़ती पत्थर' की मात्र दस पंक्तियाँ यहाँ समीक्षार्थ उपयोग में लाई जा रही हैं । कविता का सन्दर्भ है कोई अपरिचित नारी, पत्थर तोड़ने वाली---- मजदूरिन जो सर्वहारा वर्ग का प्रतिनिधित्व कर रही है।

भाषायी संचेतना का स्वस्थ प्रयोग कुशल कवियों द्वारा ही सम्भव है। शिल्प आन्तरिक काव्यकौशल को अभिव्यंजित करने में सहायक होता है । कला के पारखी 'निराला' का सहजोद्गार उल्लेख्य है।

इस अवतरण में उपान्तिक बन्धना का अच्छा प्रयोग हुआ है। निराला की भाषायी संचेतना शृंखलाघात और उपान्तिक बन्धता के सन्दर्भ में छायावादी कवियों में बेजोड़ है। इसका प्रयोग द्रष्टव्य है —

वह तोड़ती पत्थर (तो—ती)
देखा उसे मैंने इलाहाबाद के पथ पर (प—प)
वह तोड़ती पत्थर ।
नहीं छायादार
पेड़, वह जिसके तले बैठी हुई स्वीकार;
श्याम तन, भर बँधा यौवन (तन—यौवन स्वनिममूलक व्यंजना)
नत नयन; प्रिय–कर्म–रत मन (न—न, न—न)
गुरु हथौड़ा हाथ (ह—हा)
करती बार–बार प्रहार (बा—बा, र—र, र—)
सामने तरु—मालिका अट्टालिका, प्राकार ।(का—का, का—)

पत्थर तोड़ने वाली मजदूरिन को जिस परिवेश में पत्थर तोड़ना पड़ रहा है वह उसकी मानसिकता के सर्वथा विपरीत है। इस विपरीत परिस्थिति को कवि ने इस रचना के शीर्षक 'तोड़ती पत्थर' में ही ध्वनित किया है। 'तोड़ती' शब्द के लिंग प्रयोग से स्पष्ट है कि पत्थर कठोर है और पत्थर तोड़ने वाली नारी कोमल है। कोमल और कठोर के बीच संघर्ष। धनीधीशों और दीन–हीनों के बीच चलने वाले

घात– प्रतिघात का संकेत। कवि से अधिक उसकी अन्तर्मानसिकता मुखर हो गई है । कवि जिस काव्यगत मनोवैज्ञानिकता का ताना–बाना बुन रहा है वह उसके इष्टार्थ–संयोजन को व्यंजित करने में पूर्ण समर्थ है। यहाँ भाषा में छायावादी लहर नहीं, प्रगतिवादी संघर्ष है। कवि ने जिस कारुणिक प्रसंग की योजना की है वह संघर्ष – मूलक व्यंजना से युक्त है।

पुनः 'गुरु हथौड़ा हाथ। करती बार–बार प्रहार। सामने तरु–मालिका–अट्टालिका; प्राकार ।' यह गुरु हथौड़ा पत्थर पर तो पड़ ही रहा है, पर कुछ ऐसा भी व्यंजित हो रहा है कि इस गुरु हथौड़ा का प्रहार अट्टालिका अथवा प्राकार पर न पड़ जाए। इसकी व्यंजना इस रचना के द्वितीय बन्ध, अन्तिम और तृतीय बन्ध की आरम्भिक पक्तियों से होती है—

वह तोड़ती पत्थर।
देखते देखा, मुझे तो एकबार
उस भवन की ओर देखा।

'तोड़ती पत्थर' की रचना कवि ने 1935 में की थी; जब छायावादी कल्पना के प्रभाव–तन्तु टूट चुके थे और प्रगतिशील भावना के बींज हिन्दी–काव्य में अंकुरित हो चुके थे । इस भावना ने यहाँ कवि की भाषा को भी प्रभावित किया है । उपर्युक्त पक्तियाँ इसका प्रमाण हैं। इस अवतरण में जीवन के वैषम्य की तीखी कल्पना को रूपायित किया गया है । यौवन कालीन सौन्दर्य को रेखांकित करते हुए कवि ने उसे बाह्य रूप से सप्राण तो बताया है किन्तु उससे अपनी आन्तरिक पीड़ा को जोड़े रखा है। श्याम तन। एक व्यंजना । पुनः भर बँधा यौवन । दूसरी व्यंजना । यौवन स्पष्ट है किन्तु धूप ने उसे तपाकर श्याम बना दिया है । पुनः यौवन कालीन पुष्ट भुजाओं का भी एक चित्रण, किन्तु पूर्ण विवशता के साथ —

नत नयन प्रिय–कर्म–रत मन,
गुरु हथौड़ा हाथ,
करती बार–बार प्रहार।

'करती बार–बार प्रहार' में उसकी विवशता की झलक है। यह प्रहार रोटी के एक टुकड़े के लिए निरन्तर चल रहा है। 'नत नयन प्रिय–कर्म–रत मन' में कर्म के प्रति लगन की ही अभिव्यक्ति हुई है, साथ ही प्रतिष्ठा भी व्यंज़ित है,

मर्यादित आचरण वाले नेत्र सलज्ज भाव से झुके होते हैं। गरीब मजदूरिन में भी एक संयम होता है निराला इसे बतलाना नहीं भूलते।

गुरु हथौड़ा तो सुदृढ़ हाथों से ही उठाया और चलाया जा सकता है। बार – बार प्रहार करने की क्षमता भी सुदृढ़ हाथों के द्वारा ही सम्भव है किन्तु इस सम्पूर्ण परिवेश के पीछे सर्वहारा वर्ग की सन्तप्त मानसिकता का अश्रु– पूरित अकथित दैन्य छटपटा रहा है–– 'जो मार खा रोई नहीं तथा 'मैं तोड़ती पत्थर' में इसी भावलय की योजना हुई है । मजदूरिन जो कवि के शब्दों में 'वह' (सर्वनाम) से अभिहित की गई है–– उसका आकर्षण 'तोड़ती पत्थर' की ओर है ! श्रमिक वर्ग के लिए तो प्रकृति की छाया भी उससे दूर कर दी जाती है धनाधीशों की इतनी ही कृपा क्या कम है । भले ही किसी मजदूरिन का शरीर यौवन से परिपूर्ण हो, पर वह श्याम ही होगा, क्योंकि धूप, शीत, वर्षा सबको झेलने के लिए वह बाध्य है ।

'नत नयन प्रिय–कर्म रत मन। गुरु हथौड़ा हाथ। 'करती बार–बार प्रहार' वाली यह मजदूरिन श्रमिक वर्ग का प्रतिनिधित्व करती हुई संवेदना का व्यापक प्रभाव पाठक पर छोड़ जाती है । बिम्बात्मक सम्प्रेषणीयता की योजना मार्मिक ढंग से की गई है ।

कालिदास की शकुन्तला वृक्षों का सेचन करती है। उसके यौवन और रूप को देखकर दुष्यन्त, कण्व ऋषि द्वारा सौंपे गए इस कार्य के प्रति दुःख व्यक्त करता है । साकेतकार ने भी सीता को कुछ इसी रूप में प्रगतिपूर्ण विचारें सहित प्रस्तुत किया है किन्तु निराला ने उस आभिजात्य सौन्दर्य के बिम्ब को तोड़कर पत्थर तोड़ने वाली मजदूरिन का वर्णन प्रस्तुत किया । यह मजदूरिन जिस वर्ग का प्रतिनिधित्व कर रही है वही वर्ग प्राचीर एवं प्रासादों का निर्माण करने वाला है, तथापि इस सारी सृजनशीलता का उपभोग उसके लिए नहीं है––

बन हित कोल किरात किसोरी
रची विरंचि विषय सुख भोरी।
(तुलसी : रामचरितमानस)

एक ओर सघन वृक्षावली और दूसरी ओर लू बरसती धूप। एक ओर आशाओं और आकांक्षाओं से परिपूर्ण यौवन और दूसरी ओर हाथ में पड़ा हुआ बड़ा हथौड़ा ।

एक ओर कोमल नारी जीवन की विवशता और दूसरी ओर कठोर पत्थर। निराला ने कितने विषम चित्र उभारे हैं। मानवीय जीवन की विवशता का यह संवेद्य चित्र जिस समय कवि के मस्तिष्क में ऊर्जस्वित हुआ वह इलाहाबाद के पथ पर था, जहाँ उसने इस मजदूरिन को देखकर अपने भाव सँजोये। शब्दों के प्रयोग इस विषम– धर्मी भाव–योजना को समृद्ध कर रहे हैं —

नहीं छायादार। पेड़ —
बैठी हुई स्वीकार।
श्याम तन, भर बँधा यौवन
.... प्रिय कर्म–रत मन

पुनः

नहीं छायादार। पेड़ —
सामने तरु–मालिका,
अट्टालिका,
प्राकार।

प्रत्यक्ष अनुभूति की थोड़ी चर्चा अभी अभिप्रेत है। 'निराला' की 'भिक्षुक' कविता को लोग पढ़े हुए है। 'निराला' ने भिक्षुक को समक्ष देखा। संवेदना ने उन्हें झकझोर डाला। 'वह आता' से व्यक्त होता है कि कवि का आलम्बन समक्ष है। दैन्य और करुणा का जो चित्र कवि खींच रहा हैं – प्रत्यक्ष है। 'पथ पर आता' उसकी गतिशीलता का बिम्ब है किन्तु 'चल रहा लकुटिया टेक' उसकी विवशता का, दैन्य का, करुणा का। 'मुँह फटी झोली' उसकी दुर्दशा का प्रतीक है। झोली पुरानी है जो अतीत से उसके साथ है। बच्चे भावी अंधकार–मय पीढ़ी के प्रतीक हैं। यहाँ प्रतीक और बिम्ब को करुणा के रस में सानकर आकर्षण का विषय बनाया गया है। इस संवेद्य चित्र के प्रति जिसका हृदय आकृष्ट न हो उसे धिक्कार है। सौन्दर्य पक्ष में (सुरुप) के प्रति तुलसी 'कवितावली' में लिखते हैं 'जे न ठग धिक से'। यहाँ कुरूप के प्रति आकर्षण उत्पन्न करके निराला ने यथार्थ को ध्वनित किया है।

वड्र्सवर्थ ने 'शान्ति की बेला में स्मरण किए गए प्रबलतम मनोवेगों के सहजोद्रेक के माध्यम से काव्य को परिभाषित किया है। निराला की 'वह तोड़ती पत्थर' में भी यह ध्वनि है कि 'निराला' ने तत्काल नहीं, 'शान्ति के क्षण' में अपनी

स्मृति को धारदार अभिव्यक्ति प्रदान की। संवेदना की गहराई यह है कि 'निराला' के मस्तिष्क से पत्थर तोड़ने वाली मजदूरिन का चित्र विलुप्त नहीं हो रहा है। तुलसी की ललनाएँ ग्रामीण परिवेश में आनन्द की अनुभूति का अनुभव कर रही हैं और 'निराला' की मजदूरिन करुणार्द्र वेदना से पीड़ित है। इस प्रसंग को बहुत विस्तृत किया जा सकता है किन्तु इसे यहीं पाठकों पर छोड़ दिया जा रहा है।
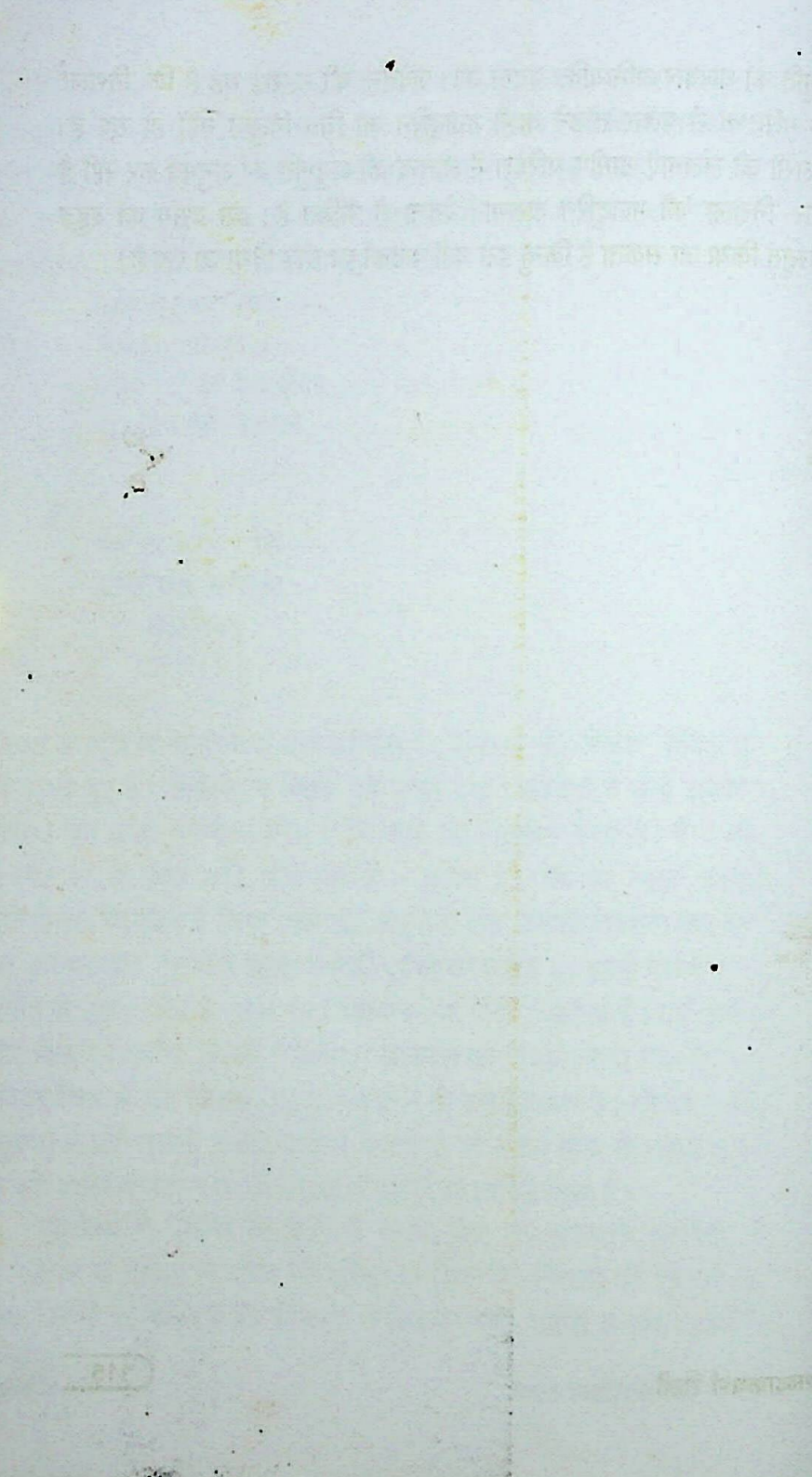
डॉ. रामशिरोमणि 'होरिल'

उ.प्र. हिन्दी संस्थान लखनऊ
साहित्य भूषण पुरस्कार से समलंकृत

डॉ. 'होरिल' की अन्य रचनाएँ

- आधुनिक हिन्दी में रूप-वर्णन (शोध प्रबन्ध)
- शब्दाकर्षण शैली (काव्य शास्त्र)
- बिहारी-सतसई : नव्य दृष्टि (आलोचना)
- दुष्यन्तप्रिया (खण्ड काव्य)
- ढाका-विजय (खण्ड काव्य)
- करील के काँटे (गीत संग्रह)
- जीवन-राग (मुक्तक, गीत तथा अन्य रचनाएँ)
- काजल और कनेर (गीत संग्रह)
- अम्बेडकर महान
- अनबँधी जिन्दगी प्रीति की डोर से (कहानी संग्रह)
- गमके माटी गाँव की (उपन्यास)
- छलके आँसू भीगे आँचल (उपन्यास)
- दृष्टि-दर्पण (निबंध संग्रह)
- सीतासुचरितम् (महाकाव्य)
- बहरे बाबा (नाटक)
- स्फुट काव्यादर्श (स्फुट रचनाएँ)
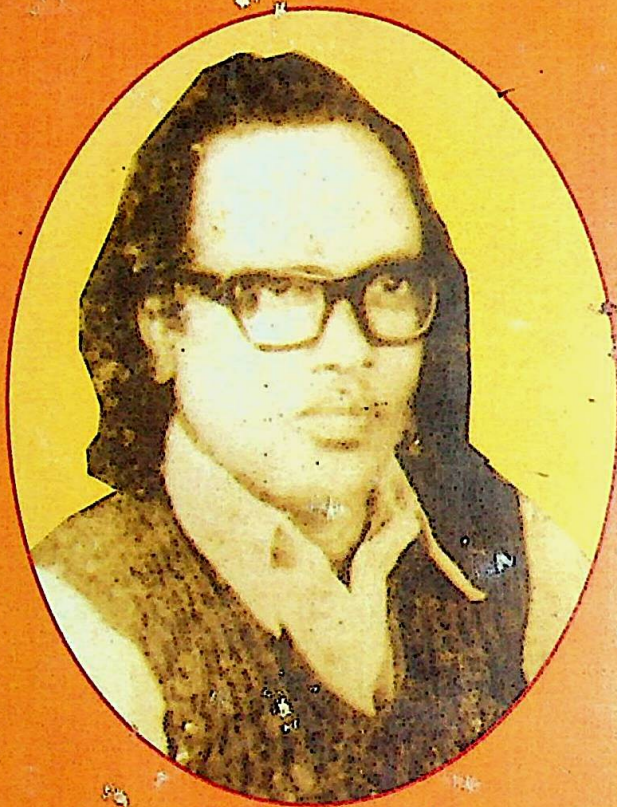
डॉ. रामशिरोमणि 'होरिल'
उ०प्र० हिन्दी संस्थान लखनऊ
साहित्य भूषण पुरस्कार से समलंकृत
प्रधान सम्पादक
हि० साप्ता० 'भाषादूत' वाराणसी